सम्पादक

श्रीरामलोचनशरण बिहारी

['बालक'-सम्पादक]

सुन्दर साहित्य-माला

१ पद्यप्रसून (महाकवि 'हरिऔध')	१।)
२ दागे जिगर (श्रीरामनाथ 'सुमन')	१।)
३ निर्माल्य (श्रीमोहनलाल महतो गयावाल 'वियोगी')	१)
४ सौरभ (श्रीरामाज्ञा द्विवेदी 'समीर', एम० ए०)	१)
५ कविरत्न 'मीर' (श्रीरामनाथ 'सुमन')	१॥।)
६ बिहार का साहित्य (दस साहित्यिकों के भाषण)	१॥।)
७ देहाती दुनिया (श्रीशिवपूजनसहाय)	१॥)
८ प्रेमपथ (श्रीभगवतीप्रसाद बाजपेयी)	२)
९ नवीन बीन (स्वर्गीय लाला भगवान 'दीन')	२)
१० प्रेमिका (स्वर्गीय पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा)	२॥)
११ विमाता (श्रीअवधनारायणलाल)	२)
१२ एकतारा (श्रीमोहनलाल महतो गयावाल 'वियोगी')	१)
१३ विभूति (श्रीशिवपूजनसहाय)	२)
१४ अशोक (श्रीलक्ष्मीनारायण मिश्र, बी० ए०)	१।)
१५ नवपल्लव (श्रीविनोदशंकर व्यास)	१।)
१६ सुधासरोवर (श्रीदामोदरसिंह 'कविकिङ्कर')	१)
१७ किसलय (श्रीजनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', एम० ए०)	१॥)
१८ दुर्गादत्त परमहंस (प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र)	१॥)
१९ वाग्विलास (स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी)	१॥)
२० रसकलस (महाकवि 'हरिऔध')	४)
२१ कैलास-दर्शन (श्रीशिवनन्दन सहाय, बी० ए०)	१॥)
२२ आदर्श राघव (स्वर्गीय श्रीउदितनारायण दास, बी. ए., बी. एल)	२)
२३ उत्तराखंड के पथ पर (प्रोफेसर मनोरंजन, एम० ए०)	२)
२४ कामना (स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद')	१॥)
२५ आवारे की यूरोप-यात्रा (डाक्टर सत्यनारायण, पी०-एच० डी०)	२॥)
२६ छाया (स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद')	१॥)
२७ कानन-कुसुम (,, ,,)	१)
२८ रेणुका (श्री 'दिनकर')	२)
२९ शिकारियों की सच्ची कहानियाँ (चौधरी शिवनाथ सिंह शांडिल्य)	१॥)
३० पारिजात (महाकवि 'हरिऔध')	४)

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय

"जग में आकर इधर उधर देखा
तू ही आया नजर जिधर देखा"

श्रीब्रजनन्दनसहाय 'ब्रजवल्लभ'

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय

१)

प्रकाशक
पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय (बिहार)

विक्रम-संवत् १९९७
सन १९४० ई०

मुद्रक
हनुमानप्रसाद
विद्यापति प्रेस, लहेरियासराय

श्रीव्रजनन्दनसहाय 'व्रजवल्लभ'

[आरा-निवासी]

समर्पण

प्रेम-रूप ध्रुव रसाधार जो
परानन्द सौन्दर्य-निधान
जिसके दरशन से मिट जाते
हैं दर्शन के सब अरमान
जिसमें विश्व, विश्व में जो है
जल-तरङ्ग-सम नित्य-ललाम
लहे 'विश्व-दर्शन' 'व्रजवल्लभ'
उसके चरणों में विश्राम

एवमस्तु हरे !

विश्व-दर्शन

के उपहार से लद जाता है। माता के प्रसव-वेदना सहे विना उसका गोद में ललित लाल ने कब क्रीड़ा की है? रत्नाकर के अतल गर्भ में प्रवेश किये विना किसके हाथ मोती आया है? खान खोदे विना किसने हीरा पाया है?

अस्तु। जीवन का मर्म, सार-तत्त्व दु:ख ही है। सुख कर्मजाल को प्रसारित करता है—आवागमन के आवर्त्त में जीव को डालता है और जन्म-मरण के सन्ताप से उसे छुटकारा नहीं पाने देता। भोक्ता को ही नहीं, द्रष्टा को भी यह कर्म-बन्धन में डालता है। दूसरे को सुखी देखकर, देखनेवाले के भी मन में विकार उत्पन्न होते हैं, ईर्ष्या-द्वेष से मन जलने लगता है; दूसरे का सुख खलने लगता है। साथ-ही-साथ कर्मजाल का विस्तार हो जाता है।

सुख-सूर्य का उदय होते ही सबकी आँखों में चकाचौंध लग जाती है। उसके प्रचंड प्रकाश से 'यह मेरा है, वह उसका है'—प्रत्यक्ष दीखने लगता है। अनुभव होने लगता है कि अमुक सुखी हुआ, मैं दु:ख में पड़ा हूँ—वह चैन उड़ा रहा है, मैं बेचैन हूँ।

अब चला सिलसिला। कल्पित दु:ख की मात्रा बढी। कृत्रिम विपत्ति का पहाड माथे पर टूट पड़ा। अपने भाग्य को, विधाता को, कोसना पडा। भगवान के ऊपर दोषारोपण होने लगे। उनके न्याय में, नियम मे, नीति के विधान में, दया-करुणा में सन्देह होने लगा।

यहाँ तक तो ईर्ष्या-द्वेष मानव दुर्बलता की परिधि के भीतर रहे। यह तो सहज, स्वाभाविक, साधारण बात हुई। पाप तो अवश्य हुआ,

किन्तु लौकिक दोष, नैतिक अपराध नहीं हुए। पर जो कहीं इस ईर्ष्या-द्वेष, लोभ-मोह की मात्रा अधिक बढ़ गई तो फिर क्या पूछना है! चोरी, जुआचोरी, मुकदमेबाजी, यहाँ तक कि हत्या की नौबत पहुँची। दोनों पक्ष बखेड़े में पड़े, दुःखी हुए। लोक-परलोक दोनों गये। बस, सुख-दिवस का देखते-देखते अवसान हो गया। सुख-वसन्त अधिक देर तक नहीं ठहरता।

रही दु ख की बात। इस दु ख-रजनी का अनन्त विस्तार है। यह द्रुपद-सुता के चीर-जैसी बढ़ती ही जाती है। इसका अन्त सहसा सहज में नहीं होता। तब हाँ, है यह भेद-मोचक। यह वह घरिया है जिसमें पड़कर सब एकदिल हो जाते है। दुःख में भाव-भेद, जाति-भेद, धर्म-भेद, देश-काल का भेद नही है। इसके रूप मे, गुण मे अन्तर नहीं यह है अपने-पराये सबके हृदय में एक ही भाव उत्पन्न करता है—सहनशीलता, समवेदना, सहानुभूति। इसकी प्रगाढ़ता अहम्भाव को नष्ट कर देती है।

दुःख का काल सुदीर्घ है। इसे हमलोग काल-माप में विभक्त नहीं कर सकते और न इसे नाप ही सकते हैं। इसका लव-निमेष सुख की घड़ी से बड़ा होता है। सुख के दिन पलक मारते बीत जाते हैं। दुःख की घड़ी काटे नहीं कटती। दिन जाता है, रात आती है। जान पड़ता है, यह समाप्त ही नहीं होगी। ऋतु-परिवर्त्तन का प्रभाव इसपर नहीं पड़ता। दुःख के समय दुखिया के ऊपर ऋतु क्या असर करती है? शीत में उसे जाड़ा नहीं, गरमी में लू नहीं, पावस में वर्षा नहीं, वह

क्या करता है ? कहाँ है ? कहाँ क्या हो रहा है ? इनकी खबर उसे कहाँ ! वाह्य जगत् से एक प्रकार उसका सम्बन्ध ही छुटा रहता है। आतप, वर्षा, शीत उसके शरीर को स्पर्श कर चले जाते हैं। उनका प्रभाव उसे अनुभूत नहीं होता। उसके घ्राण को सुगन्ध-दुर्गन्ध का अनुभव नहीं। पक्षियों के कलरव उसके कर्ण-कुहर में प्रवेश करते हैं और निकल जाते हैं, उनका असर उसके मस्तिष्क तक नहीं पहुँचता।

हमलोगों की इन्द्रियाँ यन्त्र-स्वरूप हैं। इनका काम रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श के अनुभवों को मन तक पहुँचाना है। ये वाहक हैं, भोक्ता नहीं। मन तथा बुद्धि ही अनुभव करती हैं कि कमल-दल अरुण है, रसाल मीठा है, माधवी सुगन्धप्रदा है, कोकिल मधुर-मञ्जु-भाषी है। दुःख-सुख, हर्ष-विषाद, पाप-पुण्य—ये सब भी मन की ही वृत्तियाँ हैं। स्थापन एव विसर्जन, बनाने एव तोडने का सिलसिला वहीं जारी रहता है। वाह्य जगत् अन्तर-जगत् की छाया मात्र है। वह रूप है, यह प्रतिविम्ब—वह पदार्थ है, यह अक्स।

दुखिया अपनी आन्तरिक वेदना में सदा सलीन रहने के कारण वाह्य अनुभवों से परे रहता है। अपने-आपसे बाहर जाने का उसे अवसर-अवकाश कहाँ—उसमें शक्ति कहाँ ? भला बुरा, सुन्दर-कुत्सित, रूप-कुरूप, गुण-अवगुण उसके लिये सब समान हैं। उसके चारों ओर भले ही आनन्द की तरङ्गें लहराती रहें, किन्तु वह अपने दुःखों के बोझ से कराहता ही रहता है। अशान्त चित्त, सन्तप्त हृदय उसे शिथिल, विवश किये रहते हैं।

मुस्कुराहट में, हँसी के आवरण में, बहुत-से भाव छिपे रहते हैं। ज्वालामुखी के ऊपर उसके फूटने के पूर्व हरियाली, वनस्पतियों की कमी नहीं रहती। मन्द मारुत-द्वारा हिल्लोलित सुन्दर मनोहर वीचि-काओं की ओट में असंख्य भयङ्कर हिंसक जीव-जन्तु छिपे रहते हैं। मुस्कुराते हुए प्रस्फुटित तथा मुकुलित सुमन अपने हृदय में विषधर कीट को छिपाये रहते हैं। भीतर की यथार्थ अवस्था का बाहर से पता चलना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव है। अपने आन्तरिक भावों के छिपाने की शक्ति सब जीवों से अधिक मनुष्यों में है।

मनुष्य का यह सहज स्वभाव है। ज्यों-ज्यों अवस्था, वयस्, बुद्धि बढ़ती और प्रौढ़ होती जाती है त्यों-त्यों यह इसमे पटु, प्रवीण, दक्ष होता जाता है। धोखा देना, धोखा खाना, भ्रम में पड़ना, भ्रम में डालना इसका नियम है। तन-मन, बाहर-भीतर, सम होना अपवाद है; इनमें विषमता नियम है। प्रेमपूर्वक हाथ मिलाते, स्नेहालिङ्गन करते, यह हत्या कर सकता है। हलाहल से लबालब कटोरा मुस्कुराते हुए असंकुचित भाव से यह सन्देह-हीन हाथों में प्रेमालाप से भरे मुख को पान करने के लिये दे सकता है। नहीं, दिया है! इतिहासों के पृष्ठ इसके साक्षी हैं।

किन्तु दुःख के परदे में दुःख ही है। दु.ख के भीतर वह आत्मा है जो अनुभवगम्य नहीं है। दुःख का भीतरी-बाहरी रूप एक-सा है। आँसू के अन्तराल में आँसू ही है। कलेजे के जलकर पिघले बिना आँखें छलछला नहीं सकतीं। आह तभी मुँह से निकलती है जब कलेजा

फटता रहता है। दग्ध हृदय का यथार्थ सूचक मलिन मुख है। दुःख धोखा नहीं देता। शोक छद्म वेश धारण नहीं करता। जब यह मर्म-स्थल का स्पर्श करता है तब लाख चेष्टा करने पर भी इसकी छाया अवश्य ही बाहर झलक पडती है। राहु के स्पर्श से पूर्णचन्द्र धूमिल पड़ जाता है। अतएव जहाँ दुःख है, सन्ताप है, वेदना है, वह देश, वह स्थान, वह भूमि पवित्र है। उसके चारों ओर केवल सत्य सहानुभूति रहती है। यह प्रेम, पवित्र प्रेम का रूपान्तर है। जब मनुष्य के हृदय में ज्ञान का प्रकाश होता है, प्रेम का अटल राज्य रहता है, तब वह इस तत्त्व को समझता है। इसीसे जो जितना महान् है वह उतना ही पराये दु ख से अधिक दुःखी रहता है, सुख का ससर्ग छोड़ देता है।

सुख, सम्पत्ति, सफलता, ये सब सामान्य, क्रूर तथा घृणास्पद हो सकते हैं। किन्तु दु.ख—पत्थर को मोम करनेवाला दुःख—जड प्रकृति की आँखों में आँसू लानेवाला दुःख—सृष्टि की सृष्ट वस्तुओं में सबसे बढकर मर्मस्पर्शी है। अनुभव-शक्ति उसकी तीव्र, विचित्र, प्रबल—अति प्रबल—होती है। छूते-न-छूते दुःखी सहम जाता है, दहल उठता है। वह अपनी छाया से भी डरता है। किसी को आते देख, किसी को अपनी ओर घूरते, निहारते देख वह काँप उठता है, उसका कलेजा धड़कने लगता है।

सृष्टि को कम्पायमान करनेवाला दुःख से बढकर क्या है? मान-सिक जगत् को हिलानेवाली, बुद्धि को चक्कर में डालनेवाली, सुस्थिर प्रशान्त गम्भीर हृदय-सरोवर को चञ्चल तरङ्गित करनेवाली, विवेक को

उसके आसन से च्युत करनेवाली विपत्ति से बढ़कर क्या है ? दुखिया की आह से आसमान की जञ्जीर हिल उठती है। सदाशिव जैसे शान्त—परम शान्त—योगी का ध्यान छूट जाता है, उनका आसन डिग जाता है। दर्द-दिल कलेजे को चूर-चूर कर देता है, कोमल हृदय को मुरझा डालता है, दिल को दहला देता है, मन को डावाँडोल कर देता है, जिगर को जला देता है, सीने को झुलसा कर खाक-सियाह कर देता है। किन्तु किसे आँख है जो उसे देख सके ? एक हमदर्द ही है, जो समवेदना-द्वारा इसका किञ्चित् अनुमान कर सके। प्रेम के अतिरिक्त दूसरे किसी की ऐसी अँगुलियाँ नहीं जिनके स्पर्श से यह घाव उभड़ न जाय, इससे तप्त रुधिर बहने न लगे, जिसके छू जाने से इस घाव पर नमक न पड़ जाय।

हाँ, समवेदी के छूने पर भी यह जिन्दा हो जाता है—बहने लगता है, एक घटा सी उमड़ आती है, किन्तु दर्द नहीं बढ़ता। पीड़ा कम हो जाती है, टीस मिट जाती है, दिल का गुब्बार निकल जाता है, जलन जाती रहती है, आँसू निकल पड़ते हैं; किन्तु दुःख के नहीं—शान्ति-प्रद कलेजे को ठंढक पहुँचानेवाले, हृदय से बोझ हटानेवाले, व्यथा को दूर करनेवाले। परन्तु जबतक मनुष्य जीवन के गूढ़ रहस्यों को, गुप्त तत्त्वों को, छिपे हुए भेदों को, पूर्णरूप से जान न ले तबतक इसका अर्थ, तात्पर्य मर्म नहीं जाना जा सकता।

शोक, समस्त मानवी भावों तथा वृत्तियो में, सर्वोपरि—सर्वोत्कृष्ट—है। काव्य-कौशल सगीत, चित्रकला आदि की—जिनके द्वारा मनोगत

भावों का निदर्शन किया जाता है—यह अन्तिम परीक्षा, कड़ी कसौटी, उच्चतम शिखर और चूड़ान्त आदर्श है। जीवन प्रगति की यह वह अवस्था है जिसे प्राप्त कर जीव एवं आत्मा अभिन्न हो जाते हैं, बहिर्जगत् अन्तर्जगत् का प्रतिबिम्ब हो जाता है, जिसमें अपूर्व रूप का विकास, अदृश्य आकार का आभास रहता है। कवि, चित्रकार, शिल्पी आदि कलाकार अपनी कला को आदर्श, उज्ज्वल, सर्वश्रेष्ठ बनाने के लिये सदा, सतत, सर्वत्र इसी अवस्था के अनुसन्धान में फिरा करते हैं। ऐसी जीवन-विधि के उज्ज्वल उदाहरण कदाचित् प्रत्यक्ष मिल भी जाते हैं।

नवयौवन एवं तत्सम्बन्धी भाव-चित्रण, पहले कुछ समय तक, हमलोगों को कला-कौशल के चूड़ान्त के समीपवर्त्ती होने का भ्रम—आभास दिलाते हैं। किन्तु प्रौढ़ होने पर हमलोग ठोकर लगने से चौंक उठते हैं सचेत हो जाते हैं और विचारने लगते हैं कि प्रसुप्त के अङ्ग-सञ्चालन और जाग्रत् के चैतन्य अङ्गन्यास में प्रभेद है। अभ्यन्तर-स्थित आत्मा का बाह्य जगत्—जिसके जल, थल, वायु, आकाश, समस्त विश्व-मंडल आवरण-मात्र हैं—केवल संकेत है। उसके भावों की विषम समवेदनाओं के रूप, रस, गंध, आकार, प्रकार, ध्वनि के अनुरूप प्रकृति-जगत् की आधुनिक कला आज हमारे लिये चित्र-चित्रण द्वारा वही कार्य सम्पन्न कर रही है जो आर्यों के लिये मूर्त्ति-रचना एवं शिल्प ने किया था, जिसके प्रमाण आज दिन भी गुफाओं एवं मन्दिरों में पाये जाते हैं।

समस्त विषय जिस सगीत में लय, तान तथा ध्वनि ही मे विलीन होकर रहते हैं, वह सगीत इससे विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। सच्चा कवि वही है और उसी की कविता पाठकों के हृदय पर अपना प्रभाव—पूर्ण प्रभाव—डाल सकती है जो रोगी की पीड़ा, कोढ़ी के कुष्ठ, अन्धे के निविड़ अन्धकार, विलासी आत्मा की दारुण मर्म-वेदना, दरिद्र की क्षुधा ज्वाला तथा सम्पन्न धनी की विचित्र आन्तरिक दरिद्रता के समझने में समर्थ है और अपनी पूर्ण शक्ति को उसी ओर झुकाये रहता है।

किसी विषय के भीतरी तल तक पूर्ण रूप से पहुँचे विना, उस विषय-विशेष का कवि क्या वर्णन करेगा? पात्रों के हृदय में अपना घर किये विना कवि अपने पात्रों के आभ्यन्तरिक भावों का क्योंकर चित्रण कर सकता है? वियोग-वर्णन के पूर्व कवि को स्वय वियोगी होना पड़ता है। दूसरे का दुखड़ा लिखने के पहले आप दुःख की चाशनी चखनी पड़ती है। जिसके ओष्ठाधर को शराब के प्याले ने स्पर्श नहीं किया वह खुमार का मजा क्या जानेगा? जिसे कान नही वह तान की तरङ्गों में क्या गोता लगावेगा, वह सङ्गीत का स्वाद क्या लेगा? जाने, तब कहे। तब न दूसरा उसका कहा माने। सहने और कहने मे घनिष्ट सम्बन्ध है।

बात यह है कि जो दूसरे के दु.ख को अपना बनाता है, वही अपने दु ख से दुःखी नहीं होता। जो अपने-आप ही में है, वही यथार्थ में दुःखी है। जो दूसरे के लिये जीवन धारण करता है, दूसरे के लिये

जीता है, दूसरे के लिये मरता है, वही अमर है, वही सुखी है। जो केवल अपने ही लिये जीता है, वह केवल शरीर का बोझ वहन करता है। वह जीते-जी मृतकवत् है। इसी गुण से आभूषित रहने के कारण हमलोगों में कितने मनुष्य से देवता हो जाते हैं और इसी के अभाव से कितने मनुष्य से पिशाच बन बैठते हैं।

इसी से कहता हूँ कि शोक ही जीवन तथा कला दोनों का अन्तिम विन्यास है। अश्रु से आर्द्र चक्षु ही सृष्टि के निखिल सौन्दर्य को देख सकता है। किन्तु सबसे कठिन काम है दुःख के यथार्थ रूप को जानना, उसके मर्म को समझना। दु ख के सौन्दर्य को समझने की चेष्टा करना सबका धर्म है। विना इसके पूर्णतया आत्म विकास हो ही नहीं सकता।

व्यथा, विशों की उग्र अध्यापिका है। शोक, कुढन मनस्ताप ज्ञानोदक है। जो अधिक जानते हैं वे अपनी जानकारी पर अधिक झखते हैं। सासारिक ज्ञान-विज्ञान पर मेरा पूरा प्रभुत्व था। किन्तु ये मुझे शान्ति न दे सके, मेरे हृदय के ताप को दूर न कर सके।

कला का यथार्थ स्वरूप उसकी पराकाष्ठा है। यह विचार एव छाया, प्रकृत एव आभास, रूप एव प्रतिबिम्ब शब्द एव प्रतिध्वनि की समता से प्रदर्शित नहीं होती। इसके यथार्थ सहज स्वरूप का वस्तु-विशेप के वास्तविक रूप के साथ अनन्य सयोग है। वाह्य मे अन्तर का विकास, आत्मा का दैहिक होना, देह का देही होना है। इसी से कहता हूँ कि शोक के साथ किसी सत्य की समता नहीं हो सकती। कभी कभी तो मुझे ऐसा बोध होता है कि ससार में दु.ख ही एकमात्र सत्य है और

सब मिथ्या प्रपञ्च है। दूसरी वृत्तियाँ, दूसरी भावनाएँ मन की भ्रान्ति से उदित हो सकती हैं। किन्तु दुःख, शोक, सन्ताप में भ्रम, भूल, भ्रान्ति कदापि नहीं हो सकती। विश्व की सृष्टि इसी के द्वारा हुई है। इसका आद्यन्त यही है। प्रेम इसी यन्त्र-द्वारा अपना सब काम करता है। तब न कन्दर्प के हाथ में धनुष-बाण देकर आर्यों ने उसकी सुन्दर मूर्त्ति बनाई है।

अलौकिक महान् सत्य, निगूढ तत्त्व यही है। सब वस्तुओं में, सब पदार्थों में अन्तर्हित यही है। सुख-सम्पत्ति अपना प्रभाव केवल देह पर, इन्द्रियों पर डालती है; किन्तु सन्ताप, विपत्ति, अपने मर्म, अपनी वेदना, अपनी टीस का असर आत्मा तक पहुँचाती है। सुख सुन्दर स्थूल नश्वर शरीर के लिये है, और दुःख पवित्र अलख अविनाशी अमर आत्मा के लिये।

शोकाकुल प्राणों के कारण तप्त अश्रु-जल से सिक्त अन्नग्रास जिसके अवरुद्ध कठ के नीचे कष्ट से कभी नहीं उतरा है, जिसने दुःखमय निशीथ को दुःखात्मक प्रभात की अपेक्षा में रोते-बिलखते कभी नहीं बिताया है, वह आनन्द-मूर्त्ति परमानन्द को कदापि नही जानता और न जान सकता है। अश्रुसिक्त लोचन और आर्द्र हृदय ही उस आनन्द-सिन्धु सुख-राशि के पाद-पद्म तक पहुँचने का अधिकार रखते हैं। दुःख झेले बिना क्या कोई सुखानन्द, अखडानन्द का प्रत्यक्षानुभव कर सकता है? असह्य ताप मे तप्त हुए बिना शीतल छाया का सुख क्या कभी अनुभूत हो सकता है?

मैं सगर्व कहता हूँ कि इसे मैं कुछ-कुछ जानता हूँ और उसी को सुनाने के लिये मैं आप लोगों के सम्मुख हुआ हूँ। मुझे आप लोग कदाचित् भूल गये हों। किन्तु एक बार और मैं अपना दुखड़ा आप लोगों को सुना चुका हूँ। तब सुख-दुःख का समावेश था। एक दूसरे का मिश्रण था। अब दुख-ही-दुख है। किन्तु इस दु ख में एक विचित्र शान्ति है। तब सबसे घिरे रहने पर भी मैं अकेला था। अब अकेला होने पर भी मैं अकेला नहीं हूँ। जीव-समूह मेरा परिवार है। तब मैं दुनिया का था, आज दुनिया मेरी है। तब सयोग में वियोग था, आज वियोग ही में सयोग है। उस दिन मैं सम्पन्न दरिद्र था, आज दरिद्र होने पर भी सम्पन्न हूँ। उस दिन मैं दूसरे का था, आज दूसरे मेरे हैं। तब आशा-तरङ्ग में तैरता था, इसी से निराशा के तूफान में पड़ा रहता था। अब ऐसी कोई वस्तु ही नहीं रही, जिसकी प्राप्ति के लिये मन में वासना का उदय हो। जब वासना गई तब आशा कहाँ? आशा के छोडते ही निराशा ने पीछा छोड़ा। तब कुछ रहस्य नहीं था, अब मैं रहस्यपूर्ण हूँ। तब ओछापन भी था, अब गूढ प्रगाढ गाम्भीर्य है।

प्रथम प्रलाप

मैं क्या था ?

बहुत दिन पहले की बात है । तब मुझे सब कुछ था—धन, जन, मान, प्रतिष्ठा । बालपन में मैं एक उच्च कोटि का छात्र समझा जाता था । मेरी बुद्धि कुशाग्र थी, तीव्र थी । मेरी प्रतिभा आदर्श थी । उस समय अपनी कक्षा में क्या, विद्यालय में—वरन् विश्वविद्यालय में, मेरे जोड़ का दूसरा छात्र नहीं था । मुझे देख मेरे अध्यापक भी चकरा जाते थे ।

समय पाकर लोग मुझे अपने काल के कला-कौशल-विज्ञान का आदर्श समझने लगे । जो मेरे मुँह से निकला, वही प्रमाण हुआ । तर्क की दाल मेरे सामने नहीं गलती थी । साहित्य, काव्य, व्याकरण, विज्ञान, गणित, भूगोल, खगोल, पुरातत्त्व, अर्थनीति और राजनीति

क्या, कौन ऐसा विषय वा विद्या थी जिसका मैं पूर्णज्ञाता—विश पंडित—आचार्य नहीं था, जिसपर मेरा पूर्ण प्रभुत्व नहीं था। अपनी इस योग्यता को मैं पूरी तरह जानता था। इसका मुझे पूरा अभिमान था। जिस प्रकार अपने रूप को दर्पण में देखकर यौवन-मद-माती कामिनी फूल उठती है—गर्व से भरी, आपे से बाहर हो जाती है, अपने-आपपर मुग्ध होती है, उसी प्रकार मैं अपने गुण पर, अपनी बुद्धि पर मुग्ध रहता था। समसामयिक समालोचक, कवि, कोविद, विश, विद्वान् मेरे दर्पण थे। रमणी जैसे रूप-गर्विता होती है, मैं गुण-गर्वित था। देश पर, समाज पर, समय पर, वातावरण पर, मेरी धाक थी। सब मेरा लोहा मानते थे।

अपने समय के लोगों से बल-पूर्वक मैं अपनी प्रतिष्ठा कराता था। वे लोग विवश थे। इच्छा नहीं रहने पर, मन में मेरे प्रति द्वेष रखने पर भी, उन लोगों को मेरे सामने सिर झुकाना पड़ता था। जीते-जी प्रतिष्ठा प्राप्त करना क्या कम सौभाग्य है ?

प्रायः देखने में आता है कि व्यक्ति-विशेष के इस लोक से प्रस्थान कर जाने के बाद, थोड़े नहीं—बहुत दिनों के बाद, जब उसका समय—उसका युग—उसका काल बीत जाता है, इतिहास, जीवनी तथा समालोचना लिखनेवाले पुरातत्त्व-वेत्ता लोग उसका परिचय उसके वंशधरों को, उसके नगर को, उसके देश को देते हैं। सूर्य के अस्त हो जाने के पश्चात्, बहुत देर के बाद, जब चारों ओर अन्धकार—घोर अन्धकार—छा जाता है, तब संसार को ज्ञात होता है कि भगवान्

भास्कर क्या थे—उनके चले जाने से किसकी क्या और कितनी हानि हुई।

कितने ऐसे कवि, शिल्पी, चित्रकार, वैज्ञानिक इस धराधाम पर आये और चले गये, जिनकी रचना, कला, कीर्त्ति और आविष्कार का न उनके समकालिक और न बादवाले आदर कर सके और न उनका पता पा सके। कितने पुष्प, फल कानन में, अरण्य में, पर्वतों की कन्दरा-खोह-घाटी मे विकसित होते हैं, खिलते हैं, फलते हैं, पकते हैं, मुरझाते हैं, सूखते हैं और झर जाते हैं। अपने जीवन-काल में अपने सौरभ को चारों ओर फैलाते हैं। किन्तु उनका ऐसा सौभाग्य नहीं कि कोई उनके रस का, गन्ध का, स्वाद का, उपभोग कर सके—उनका नाम-गुण जाने और उनसे लाभ उठा सके। कितने पक्षी अपने मधुर स्वर से आप मस्त हो अलापते-अलापते गला फाड़कर मर जाते हैं। उनका सुननेवाला, सुनकर उनसे आनन्द उठानेवाला कही कोई नहीं मिलता। वे अपने-आप ही में सन्तुष्ट रहते हैं। उनका यह बड़प्पन है। इसका द्वेष, दु ख, विषाद उनको नहीं होता। किन्तु मनुष्य में यह दुर्बलता है कि उसके रूप, गुण, बुद्धि, रचना, आविष्कार, ज्ञान का उपयोग करनेवाला—उनका आदर करनेवाला—उनका ग्राहक यदि नहीं मिलता तो साधारणतः वह दु खी रहता है—जबतक अपने आध्यात्मिक ज्ञान, बल तथा अलौकिक आत्मशक्ति के कारण वह ऐसा आत्मदर्शी, आत्मत्यागी न हो कि जिसके निकट मान-अपमान, स्तुति-निन्दा समान ही हो।

अपनी स्तुति, प्रशंसा सुन कौन माता का लाल प्रसन्न नही होता,

किसके मन में गुदगुदी नहीं आती, किसका चेहरा खिल नहीं जाता ? यह स्वाभाविक गुण है। यह साधारण नियम है। इसके प्रतिकूल होना अपवाद है। अत्यन्त ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी यह दुर्बलता, मानसिक दुर्बलता, मानवी दुर्बलता, दूर नहीं होती।

अपने बल को, शक्ति को, मैं पूरा जानता था और दूसरों को भी अनुभव कराता था। दूसरों के लिये मैं एक उच्च कोटि का आदर्श था। मेरी रचनाएँ स्थायी थीं। वे रहस्य-भेदिनी थीं। उनका विषय गूढ था। उनका भाव गम्भीर था। दूसरों को प्रसन्न करने के लिये मैं नहीं लिखता था, वरन् दूसरों को यह जताने के लिये कि मेरी कितनी जानकारी है।

भगवान् ने मुझे सब-कुछ दिया था। किन्तु अपने पौरुष, ऐश्वर्य, प्रतिभा को देखकर आप ही मेरी आँखें तिलमिला गईं। माथा फिर गया। वासना, कुवासना, दुर्वासना की ओर मेरा मन दौड़ने लगा। मेरा आचरण भ्रष्ट होने लगा। मुझे देखकर जो लोग भीतर-ही-भीतर जला करते थे, मन ही-मन सन्तुष्ट हो मुझे देख-देख मुँह मोड़ मुस्कुराने लगे। परन्तु इसका पता मुझे न चला। सुख की खोज में अपने उच्च पद से मैं नीचे उतरने लगा। कुसस्कार ने जोर पकड़ा। संसर्ग भी बिगड़ गया।

तब मैं नहीं समझ सका कि एक जरा-सी बात, एक साधारण काम, मनुष्य के जीवन-स्रोत को सदा के लिये फेर देता है। देवदूत, चारों ओर, प्रतिक्षण, हमलोगों के एक-एक काम को देखा करते हैं। यदि वे चाहते तो हमलोगों को बुरी राह पर जाने से रोक देते। किन्तु

वे ऐसा नहीं करते। हमलोगों के किसी काम में वे हस्तक्षेप नहीं करते। वे केवल साक्षी स्वरूप सब देखा करते हैं; सबका केवल लेखा-जोखा रखते हैं।

इतिहास इस बात को बताता है कि एक भ्रम, एक भूल, एक भ्रान्ति और एक गलती के कारण श्रीविदेह-तनया को आजीवन दुःख भोगना पड़ा। किसी से उनकी सहायता करते न बना। एक वासना ने उन्हें सदा के लिये सुख से, परिवार-सुख से, वञ्चित कर दिया। उनके जीवन को विषमय, विषादमय, बना दिया। सोने के मृग पर मन जाना और श्रीलक्ष्मण के प्रति मर्म-वचन बोलना।

फिर क्या, एक बार नदी-स्रोत पर्वत के कठिन कलेजे को फोड़कर जब निकल पड़ता है तब फिर उसकी गति को कौन रोक सकता है? ज्वालामुखी का मुँह खुल जाने पर उसे कौन बन्द कर सकता है?

कृष्णा के लम्बे काले सुन्दर केश को एक बार खींचने के फल-स्वरूप महाभारत—घोर महाभारत—हुआ, जिससे भारत की प्राचीन सभ्यता सदा के लिये नष्ट हो गई। सभ्य आदर्श आर्य-जाति के स्थान पर हमलोग नीच, मूर्ख, असभ्य, काले, गुलाम हो गये। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी सन्धि न करा सके।

बुरी वा भली, कोई बात क्यों न हो—उसे लुक-छिपकर सोचने, करने और अपने मन में स्थान देने पर भी वह ऐसा भीषण रूप धारण कर लेती है कि छप्पर पर चढ़कर पुकारने लगती है। कार्य एवं कारण के सिलसिले का, एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध का, पता

पाना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव है। बड़े-से-बड़े तार्किक इसका पता लगाने में असमर्थ हैं।

बालक 'फारेडे' के गुड्डी उड़ाने का परिणाम यह हुआ कि आज दिन घर-घर में, सडकों और गलियों में, बिजली आलोक प्रदान करती है—रेल, तार और कल-कारखानों में मोटिया-मजदूर का काम करती है। एक फल का वृक्ष से गिरना और 'निउटन' का आकर्षण-शक्ति का पता पाना। कौसल्या रानी की दासी के अभिमान, गर्व और ऐंठ पर मथरा का रुष्ट होना और श्रीरामचन्द्र का वन जाना। देवदत्त का हंस को मारना और गौतम का बुद्धदेव होना—राज-सुख को छोड़ सन्यास लेना। दाराशिकोह का हाथी के हौदे से घोड़े की पीठ पर आना और औरंगजेब का मयूर-सिंहासन पाना, शाहजहाँ का कारागार में जाना। भला कार्य और कारण के इन अनमेल लगाव—विचित्र उलझनों—का भेद कौन बता सकता है? अपने मन में एक सन्देह को स्थान देने के कारण दक्षतनया को पति-प्रेम से वञ्चित होकर प्राण देना पड़ा। क्या करते क्या होता है, किससे क्या हो जाता है, कौन कह सकता है?

अपनी एक भूल के लिये मुझे भी इतना भोगना पड़ा। अपने ऊपर पूर्ण प्रभुत्व न रखने के कारण—एक बार, केवल एक बार, जरा-सा विचलित हो जाने के कारण—मुझे कैसे-कैसे दुःख झेलने पड़े, इसका अनुमान क्या कोई कर सकता है?

लोग कहते हैं कि मनुष्य स्वतंत्र है, स्वेच्छाचारी है। पर जानना

चाहिये कि यही स्वतंत्रता इसके बन्धन का कारण है। शरीर धारण करने का यह दंड है। देहजनित विकारों से मुक्ति पाना मनुष्य के लिये असम्भव है। कहना सहज हो सकता है; किन्तु उसे कार्य में परिणत करना कष्टसाध्य क्या—असाध्य ही है। तर्क में जो बुद्धि काम करती है, क्या कार्य के समय उसमें वही बल, वही शक्ति, वही विचार, वही विवेक रहता है?

मन सदा चञ्चल रहता ही है। मनुष्य को डावाँडोल रखना इसका स्वाभाविक धर्म ही है। केवल बुद्धि के अंकुश से यह ठीक रास्ते पर रहता है। किन्तु काम करते समय यह बिचारी बुद्धि शिथिल हो जाती है—चकरा जाती है—आगा-पीछा करने लगती है—विवश हो जाती है। समय पर जरा-सा इसके चूक जाने से मन स्वतंत्र हो जाता है और अपना मनमाना इन्द्रियों से करा लेता है।

फिर क्या—जीव पड़ा कर्म के आवर्त्त में! अब तो जो नहीं करना चाहिये उसी को विवश हो करने लगा। इस अवस्था में कारण और कार्य की उलझन को भला कौन सुलझा सकता है? कर्म का विस्तार हुआ—कर्मफल भोगना पड़ा। किसे कौन दोष दे? हाय!

"कभी न चैन से रहने दिया तमन्ना ने।
खराबो खस्तऽ मैं इस दिल के आरजू से रहा॥"

एक बात कहने को भूल गया था। इतना ज्ञान रखकर, मस्तिष्क की इतनी उन्नति होने पर भी, मेरा ध्यान निःशेष-शुद्ध अध्यात्म की ओर नहीं जाता था। वासनासक्त होने के कारण परमार्थ से यथार्थ सम्बन्ध

मेरा नहीं था। प्रवृत्ति-मार्ग पर सदा चलते रहने से मेरे सब कर्म काम्य होते थे।

"जो खास खुदा के लिये थे काम किये।
देखा तो निहाँ उसमें भी थी कोई गरज॥"

लोभ, दम्भ, पाखंड, अभिमान से मैं चूर रहता था। परमार्थ के मेरे ज्ञान मेरी वाग्विडम्बना में ही समाप्त थे।

जीव, ब्रह्म, माया—इनका पारस्परिक सम्बन्ध मेरे निकट अनिश्चित और अज्ञात था। तात्पर्य यह कि भगवान् को मैं यथार्थ रूप से नहीं जानता था, उन्हें नहीं मानता था, उनमें मेरा विश्वास नहीं था। वह मुझे जानते थे वा नहीं, वही जानें।

द्वितीय प्रलाप

क्या होने लगा ?

समय ने पलटा खाया। दुनिया ने सब्जबाग दिखाया। चिन्ता ने अपना गाढ़ा रङ्ग जमाया। मरीचिका-सी आशा नष्ट हो गई। हवाई किला धूल में मिल गया। कीर जैसे सेमर के पुष्प के आसरे बैठकर उसके फूट जाने पर पछताता रह जाता है, वैसे ही अपने संसार को बिगड़ते देख मैं हाथ मलता रह गया। कुछ वश न चला! जिसे मैं मुक्ता समझकर हृदय से लगाये बैठा था, वह काँच निकला। खोटा होने के कारण मोती कौड़ियों के मोल का हो गया।

आँखें खुलीं। सुख-स्वप्न भङ्ग हुआ। जिसे मैं हितू समझता था, वह वैरी—प्राण का गाहक—था। सब गया। नाम, प्रतिष्ठा, पद, सुख, धन-सम्पत्ति, एक-एक कर सब गया। अब इस ससार में एक दम में मुझे एकदम कुछ न रहा। मेरी प्राणपण से सींची हुई हरी-भरी,

फूली-फली, मनोहर वाटिका एक निर्दय, कराल, तप्त झोंके से सदा के लिये ध्वस हो गई।

सर्वसाधारण को, जनसख्या को, तो मैं कुछ समझता ही नहीं था। मेरी धारणा थी कि इसे मै काठ की पुतली-सी अपनी अँगुलियों के इशारे पर जैसे चाहूँगा, नचाया करूँगा, लोकमत मेरे भृकुटि-विलास के अधीन है। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। दिन बिगड़ते जान पड़ा कि सभी मेरे विरुद्ध हैं।

भीतर-ही-भीतर उनका मन मुझसे खट्टा था। अवसर पा वे मुझसे वैर साधने लगे। मैं अपने अभिमान के कारण सबकी आँखों में खटक रहा था। सब घात में लगे थे। घात पा लोगों ने मुझपर घात किया। मुझे तलमलाते देख लोगों ने धक्के दिये। 'बिछली पर धक्का' की उक्ति चरितार्थ हुई।

मुझे मरणापन्न देख लोगों ने मुझे मार ही डाला। अपनी रक्षा की मुझमें अब शक्ति न रह गई थी। अभिनय देखने का सुख भोगने में मैं ऐसा तन्मय—ऐसा लीन था कि अन्तिम पटाक्षेप की मुझे सुधि न रही। खेल समाप्त हो गया। पलक मारते बिजली की रोशनी बुझ गई। रङ्गमञ्च खाली हो गया। जनारण्य मरुभूमि हो गया। मैं चौंक पड़ा।

मेरा ध्यान टूटा। देखा कि मेरे मनोनीत राज्य का विप्लव हो गया है। मेरा आनन्द-बाग वीरान हो गया है। मेरा नन्दन-कानन उजड़ गया है। आशा-लतिका शुष्क हो गई है। सुख-सूर्य अस्त हो

गया है। चारों ओर अन्धकार छा गया। कहीं कुछ नहीं। सब-के-सब हट गये। दशों दिशाएँ शून्य दीख पड़ने लगीं। कोई बात पूछनेवाला नहीं रह गया, आदर करना तो दूर रहा।

एक दिन जो साहित्य-सम्राट, भाव एवं भाषा पर पूरा प्रभुत्व रखने के कारण कवियों का शिर-मुकुट समझा जाता था, आज उसमें यह योग्यता नहीं कि अपने भावों को व्यक्त कर सके। अब मुझमे वाक्य-योजना की शक्ति न रही, भाव न रहे; शब्दों का भंडार खाली पड़ गया। अपने दुःख, परिताप, दारुण दीनता, जी की जलन, लज्जा-निर्लज्जता की मर्म-कहानी क्योंकर कहूँ। कहने से मन हल्का होता-कलेजे का बोझ उतरता; पर यह हो कैसे! कहने का उपाय ही क्या है! जब लेखनी में शक्ति ही न रही, मेरे हाथ में अब यह वन की घास घास ही होकर रह गई। इसने अपना जोर, बल, प्रभाव, सब खो दिया। तब कहा क्या और क्योंकर जाय!

सब कुछ भाग्य और दुर्भाग्य पर निर्भर है।

"दिनन के फेर से सुमेरु होत माटी के।"

क्या कहता था, क्या कहने लगा! कहाँ से कहाँ चला गया! भाग्य और उद्योग, प्रारब्ध और यत्न की उलझन क्या तय होनेवाली है! जिसे जो पूर पड़ा उसने उसी को ठीक माना। बनना बिगड़ना लह जाने की बात है। पासा पड़े गँवार जीते। अपनी तो हर ओर हार-ही-हार दीखने लगी।

"हम सा न बदकुमार हुआ इस बिसात पर।

जो चाल हम चले व निहायत बुरी चले ।।"

पर बात तो यह है कि जो मुझे झेलना पड़ा, उसकी व्याख्या ऐसी लेखनी कहाँ जो लिख सके और ऐसा पत्र कहाँ जिसपर उल्लेख हो सके।

जो हो, मैं तो यह कहने को तैयार हूँ, वरन् जोर देकर कह सकता हूँ कि मैंने अपनेको आप बरबाद किया। अपना विधाता, अपना सहारक, मैं आप ही हुआ। यही क्यों, ऊँच अथवा नीच, जेठ अथवा हेठ, उत्तम अथवा मध्यम इस वसुन्धरा में कोई भी क्यों न हो, विना अपने किये किसी का सत्यानाश नहीं होता और न हो सकता है। मनुष्य अपने ही हाथों अपनेको नष्ट-भ्रष्ट करता है ।

इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिये, इसका प्रमाण देने के लिये, मै पूर्ण रूप से प्रस्तुत हूँ, पूरा तैयार हूँ। कोई तार्किक अपने तर्क द्वारा मुझे इस सिद्धान्त से हटा नहीं सकता। तर्क में हारना एक बात है और अपने विचारों को बदलना दूसरी बात। मैं किसी के तर्क का उत्तर न दे सका। उसकी बातों का, युक्तियों का, खडन न कर सका। इससे क्या मैं उसके सिद्धान्तों, मन्तव्यों को मानने लगा, उसका अनुयायी हो गया ? अपने सिद्धान्त मे पूर्ण विश्वास रखता हूँ, क्योंकि मुझे शास्त्र द्वारा यह प्राप्त नहीं हुआ है, वरन् अनुभव करके मैंने इसे जाना है। इसे जाँचा है, मनन किया है, प्रमाण-सग्रह किये हैं। अतएव अपने विचारों पर मैं दृढ़ हूँ। अपने सिद्धान्तों पर अटल हूँ।

सुनिये, काम करने का काम हमलोगों का है, परिणाम भगवान्

के हाथ है। इस बात के पढ़नेवालों में कितने महानुभाव ऐसे भी हो सकते हैं जिनके निकट भगवान् की स्थिति ही न हो। वे इस अंश को छोड़ सकते हैं। किन्तु जो भगवान् को मानते हैं, उसके अधीन इस सृष्टि को—वरन् असख्य अनन्त सृष्टि को—मानते हैं, वे विश्वास करते हैं और श्रद्धायुत विश्वास करते हैं कि उसी की प्रेरणा से सब कुछ होता है। जबतक उसकी अनुमति नहीं होती, पत्ता तक नहीं हिलता और न हिल सकता है। पृथिवी उसी की आज्ञा से उपजाती है। घटा उसी के आदेश से बरसती है। सयोग-वियोग, जीवन-मरण, आवागमन, हानि-लाभ, सब उसी के सकेत के फल हैं—उसी के खेल हैं। अपने-आप कुछ नहीं कर, अपनी अलौकिक लीला-प्रियता द्वारा, जिसे कितने माया कहते हैं, वह सब कुछ किया-कराया करता है। सबको नचाता रहता है। सबको लुभाता रहता है। सबको खेलाया करता है। जिस महाभाग्य को जताना चाहा, उसे अपने रहस्यों का किञ्चित् भेद जानने दिया। जो धीर हैं वे सँभल गये, इससे लाभ उठा सके। जो ओछे हैं, उतावले हो गये। फिर क्या पूछना है? बावले बन मर-मिट गये। यों तो सारा ससार अन्धा बना अँधेरे अथाह कूप में पड़ा ही है।

दर्शक नहीं जानता कि रङ्गमञ्च पर एक के बाद दूसरा कौन-सा पात्र आवेगा, एक के बाद दूसरा कौन-सा दृश्य दृष्टिपथ पर उदित होगा। इसी कारण दर्शक-मंडली उत्सुक रहती है, अकचकाया करती है, उत्कठित रहती है—क्या होगा? अब क्या होगा? तब क्या होगा? उसके बाद क्या होगा? ये प्रश्न उसे डावाँडोल किये रहते हैं। किन्तु

प्रधान नट, सूत्रधार, को सब ज्ञात है। उसके सामने सब प्रत्यक्ष है, सब तैयार है। उसको सबकी जानकारी है। अतएव वह उत्सुक नहीं है। इस अनन्त-सृष्टि-नाटक के प्रधान नट के लिये भी भविष्य नहीं है। जो है, सब वर्त्तमान ही है। उसकी अनन्त दृष्टि के सामने कुछ भी किसी प्रकार के आवरण से ढँका नहीं है। अनन्त काल ! पहले से वह भली भाँति जानता है कि अनन्त कालक्रम में कब कैसा क्या होगा। उसके निकट आगामी कल नहीं है।

तब प्रश्न उठ सकता है कि ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर उसको छोड़ दूसरा कौन दे सकता है? हाँ, यदि कोई उससे भी बड़ा हो तो वही इसका और उसका दोनों का भेद बता सकता है। मेरे सामर्थ्य के भीतर नहीं है, क्योंकि कार्य और कारण के बन्धन में वह नहीं है और न आ सकता है। तर्क, विचार, बुद्धि के परे होने के कारण इनके द्वारा क्योंकर इसकी व्याख्या हो सकती है।

वह सबके उर-अन्तर में निवास करता है, सबके भाव-कुभाव को जानता है। उससे कोई क्या छिपावेगा, क्या चोरी करेगा। अस्तु, अपने विषय में कहते समय मैं अपने ऊपर दया नहीं करूँगा। जिस प्रकार दुनिया ने मेरे साथ निर्दयता दिखाई है, उसी प्रकार—वरन्, उससे भी अधिक—अपने संग निर्दयता, बेदर्दी, का व्यवहार मैं करूँगा।

दु:खानल में पूर्ण रूप से मैं तप चुका हूँ। मुझमें अब विकार नहीं है, मलिनता नहीं है, भीतर-बाहर एक-सा परिष्कृत है। तप्त काञ्चन-सा मन चमक रहा है। किसी के प्रति घृणा, द्वेष, क्रोध, वैर-भाव अब

मुझमें नहीं है। अपने सिवा कोई दूसरा दोषी मेरी आँखों में अब नहीं है। एक दिन बहुतेरे थे। किन्तु अगले दिन पीछे गये। अब सबके सामने अपनेको दोषी कहने में मुझे सकोच नहीं है, लज्जा नहीं है। जिस प्रकार सर्जन शव को काटकर उसकी नस-नस, धमनी-धमनी, अङ्ग अङ्ग का परीक्षण तथा निरीक्षण करता है—धीर भाव से उसकी ओर देखता है, हिलता नही, डोलता नहीं, मन सुस्थिर रखकर अपना परीक्षा-फल लिखता है; उसी प्रकार अपने गत तथा वर्त्तमान मनोगत भावों की परख मैं आपलोगों को सुनाऊँगा।

तृतीय प्रलाप

क्या हो गया ?

दुःख कहा—वह कैसा दुःख ? विपत्ति-जनित ऐसा दुःख जो स्थायी, अदृश्य, अलक्ष्य, मसीमय अन्धकारपूर्ण और अनिवार्य है—जिसकी प्रकृति में अनन्त का आभास है। इसमें संदेह नहीं कि समाज ने, अपने पराये ने, मेरे प्रति कुत्सित क्रूर अनुचित व्यवहार किया है। किन्तु जो व्यवहार अपने साथ मेरा हुआ है, उसकी तुलना में वे सुव्यवहार हैं, क्योंकि उसके सहस्रांश का वे एक अंश भी नहीं हो सकते।

इस दु.ख ने अनेक शिक्षाओं में मुझे एक शिक्षा यह भी दी है कि अनन्त सृष्टि में कुछ भी निरर्थक, वेकार, नहीं है। सबसे कुछ-न-कुछ लाभ ही होता है और दुःख तो सबसे अधिक उत्कृष्ट लाभ का पहुँचानेवाला है। पर यह आगे चलकर स्पष्ट होगा।

कहा जाता है, और यथार्थ ही है कि जिस दुनिया पर दृष्टि

डालकर हमलोग सोते हैं उसी दुनिया को हमलोग जगने पर नहीं पाते। हमलोगों की आँखें एक दूसरी ही दुनिया पर पड़ती हैं। घड़ी-घड़ी, क्षण-क्षण, पल-पल, इस नश्वर संसार में परिवर्त्तन हो रहा है। जो सृष्टि एक क्षण पहले थी, इस समय वह नहीं है। इस क्षण-भंगुर संसार के परिवर्त्तन की ओर मनुष्य का ध्यान आकर्षित नहीं होता। अभ्यास के वशीभूत हो वह सदा यही समझता है कि जैसा था वैसा ही है और वैसा ही रहेगा—सदा वैसा ही रहेगा। इसी खयाल में मस्त, इसी ध्यान में लीन, वह आगे के लिये नहीं सोचता। वर्त्तमान ही को बस मानता है। किन्तु जब हठात् धक्का पहुँचता है, वह अकचका जाता है और अचानक अपने खेल के घरौंदे को बिगड़ा हुआ पाता है। जब निर्दय काल अपने चक्र से उसे कुचल देता है तब वह चिहुँक पड़ता है, उसका ध्यान टूट जाता है, उसका सुख-स्वप्न भङ्ग हो जाता है, उसकी मोहनिद्रा टूट जाती है, आँखें मीच-मीचकर वह चारों ओर देखने लगता है।

मेरी भी यही दशा हुई। जिन्हें मैं अपना कहता था, वे एक-एक कर काल कवलित हो गये। जिसके पाद-पद्म पर मैंने अपना सर्वस्व-अर्पण कर दिया था; जिसके प्रेम-पाश में फँसकर, जिसके स्नेह-रज्जु में आबद्ध होकर, मैंने अपना धर्म-कर्म सब परित्याग किया था; जिसके अनुराग में पड़कर मैं सबसे विरक्त हो गया था; जिसके एक कटाक्ष के लिये मैं स्वर्ग को भी सदा के लिये छोड़ने पर प्रस्तुत रहता था; वह जब मेरे पास न रही, मुझे छोड़कर चली गई, तब मै अथाह शोक-

सागर में निमग्न हो गया। मुझे इसके कूल-किनारे का कहीं पता नहीं चलता था। मुझे ज्ञात होता था कि मैं अब न बचूँगा, मेरे जीवन की अब आशा नहीं है। यह दुनिया मुझे कारागार-सी प्रतीत होने लगी थी। अपना शरीर मेरे लिये भार हो गया था। मुझे ज्ञात होने लगा था कि सब मेरे वैरी हैं। दूसरों को देखकर मन-ही-मन मैं कुढा करता था, जला करता था। सबके प्रति मेरे मन में क्रोध था, घृणा थी। दूसरे की सुख-सम्पत्ति देख देखकर मैं अकारण ही व्यग्र, बेचैन हुआ करता था। दूसरे का उत्कर्ष सहन न कर सकने के कारण मेरे हृदय में 'असूया' भाव उदित हुआ; अतएव कुढना, जलना, आप दु:खी रहना, दूसरे को दु:खी रखना, आप रोना, दूसरे को रुलाना, यही मेरा स्वभाव हो रहा था।

निराशा ने—अमानुषिक, पैशाचिक निराशा ने—जिसकी वृत्ति जो सामने आया उसीको विनष्ट करने की होती है, मुझे घेर लिया, धर दबाया। मेरे स्वभाव के—प्रकृति के—भीतर वह घुस गई। मुझे ज्ञात होने लगा कि यही मेरी सहज प्रकृति है, मेरे हृदय में इसीका साम्राज्य है।

अपने क्रूर विपरीत स्वभाव के कारण, दया से मैं घृणा का पात्र होता गया। जो वणिक जिस वस्तु को बेचता है वह उसी को खरीदता है। दूसरे को जो दिया जाता है, पलटे में उसे वही मिलता है। यही नियम है, यही व्यवसाय है, इसीको व्यवहार कहते हैं।

अपनेमें घृणा की मात्रा पूर्ण रहने के कारण मैं अपने चारों

ओर घृणा का ही प्रसार करने लगा। गुलाब अपने चारों ओर कैसी गन्ध फैलाया करता है? कहीं आग लगने से जिस प्रकार उसके चतुर्दिक् के पदार्थ तप्त, दग्ध होने लगते हैं उसी प्रकार सर्वनाशी, संहार-कारिणी, दुःखद, निष्फल क्रोधाग्नि के हृदय-मन्दिर में धधकते रहने के कारण मैं जहाँ जाता था, जिस ओर मैं भूलकर भी निकल पड़ता था, उधर की हवा मानों गन्दी हो जाती थी।

अस्तु, मुझे देखकर लोग मुँह फेरने लगे। मेरी बुद्धि निकम्मी हो गई। मेरे ज्ञान-विज्ञान ऊसर पड़ गये। विवेक से एक प्रकार मेरा नाता ही टूट गया। मुझे सान्त्वना देने के अभिप्राय से लोग जो रहस्य-पूर्ण तर्क एवं युक्ति की बातें पेश करते थे, मेरे निकट वे निरर्थक थीं। इस कान से आईं, उस कान से निकल गईं। उनका प्रभाव मेरे हृदय, मन, बुद्धि, मस्तिष्क पर नहीं पड़ता था; क्योंकि मुझे भान होता था कि उनमें सच्ची सहानुभूति नहीं है। उनका उद्रेक-स्थान हृदय नहीं, ओष्ठ था। दिल नहीं, जबान से वे निकलते थे। वे मुँहदेखी बातें थीं। मैं पूरा समझता था, मेरा ब्रह्म मुझसे कहता था कि मेरे मुँह फेरने पर, मेरी पीठ को देखते ही, ये लोग मुझपर हँसते हैं—मेरा उपहास करते हैं—ठट्टा मारते हैं।

सान्त्वना देना सब लोग नहीं जानते। सबमें यह शक्ति नहीं होती कि अपनी बातों से, अपने व्यवहार से, दूसरे के मन को ठंडा कर सकें। इसके लिये मन में प्रेम चाहिये—हृदय में कपट की गन्ध तक नहीं चाहिये—छल का लेशमात्र न हो। किन्तु मेरे समान के

समझने में अभी देर है। मानव-जाति जिस दिन यह भेद, इसका रहस्य, पा जायगी उसी दिन से यह दुनिया स्वर्ग-तुल्य हो जायगी।

किसी के हाथ में छुरी देखकर भ्रम में न पड़ना चाहिये, क्योंकि दर्द-तकलीफ दूर करने के लिये यह वैसा ही काम देती है जैसा गला काटने—कलेजा काढने में। रक्षक और भक्षक में भेद करना सहज नहीं है। मुँह से कह देना कि अमुक दुःख में है, एक बात है; और उसके दुःख का अनुभव करना, दूसरे की तकलीफ को अपना समझना, दूसरी बात है।

स्वजनों के अलग हो जाने के बाद मैंने अपने जीवन को एक मित्र पर समर्पित कर रखा था। वही मेरा सहारा था, अवलम्ब था, मेरे स्नेह का केन्द्र था। उसीमें इस समय मेरे प्राण बसते थे। उसीके लिये मेरा जीना था, उसीके लिये मरना। उसीके सुख-दुःख को मैं अपना सुख-दुःख समझता था। उसके साथ मैं छायावत् डोलता फिरता था। उसीकी नींद सोना और उसी की नींद जागना। उसी की भूख खाना और उसी की प्यास पीना। इस समय मेरा स्वतन्त्र जीवन नहीं था। वह देह था, मैं छाया। वह चन्द्र था, मैं चन्द्रिका। वह सूर्य था, मैं आतप। वह पुष्प था, मैं गन्ध। वह दीपक था, मैं आलोक। उसके हित-साधन के लिये यत्नवान् होने के कारण मुझसे सब लोग रुष्ट हो गये, सब-के-सब बिगड़ बैठे।

समय का फेर। अपने हिताहित का ज्ञान न रहने के कारण उसके द्वारा भी मैं तिरस्कृत हुआ! बाण-विद्ध मृग-सा, चोट खाई हुई पन्नगी-

सा, मैं छटपटाने लगा। उसका मन मुझसे खट्टा हो गया। मेरा कलेजा उलट गया। चारों ओर अन्धकार छा गया। आह मारकर, कलेजा थामकर, मैं बैठ गया। लाख चेष्टा करने पर भी उसका फिर विश्वास मुझपर न जमा। उसका दिल मुझसे फिरा सो फिरा।

मुझसे उसने अपना मुँह मोड़ लिया, नाता तोड़ दिया। स्नेह-सलिल-पूर्ण मैत्री-कलश को उसने फोड़ दिया, ठोकर मारकर चूर-चूर कर दिया। आपस की बोलचाल बन्द हो गई, आना-जाना तो दूर रहा। सड़क की एक ओर, एक पटरी से, जो मुझे वह जाते देखता तो मुँह फेरकर दूसरी ओर, दूसरी पटरी से, निकल जाता। मेरी छाया छूते भी उसे सकोच होने लगा। हम दोनों एक ही शहर में रहते थे। निवास-स्थान भी एक का दूसरे से दूर नहीं था। किन्तु अब हमलोग एक दूसरे से अपरिचित-सा हो गये।

यह देख औरों को सन्तोष हुआ। उनके जी की जलन मिटी। उनका कलेजा ठंढा हुआ। फिर आपस में मेल करने का, मन का मैल मिटाने का, टूटा हुआ नाता जोड़ने का, कष्ट कौन उठावे? किसी को क्या पड़ी थी कि इसका यत्न, इसकी चेष्टा, करे।

इस एक को खोकर अब मैं बिलकुल अकेला हो गया। मुझे ज्ञात होने लगा कि मैं सभ्य समाज मे अब नहीं हूँ। भान होने लगा कि मैं हिंसक जन्तुओं से घिरा हुआ हूँ। जान पड़ने लगा कि मेरी भाषा कोई समझता ही नहीं, और न मैं किसी की बोली समझता हूँ। कहाँ वह और कहाँ यह? आकाश-पाताल का अन्तर हो गया। ज्योत्स्ना-पूर्ण

रजनी में जब वासन्ती चन्द्रदेव षोडश कलाओं से रोहिणी के साथ चमक रहे थे—शीतल, मन्द, सुगन्धपूर्ण सौरभ से उन्मत्त सुखद समीर के हिल्लोल से जब दिगन्त आनन्द-प्रद हो रहा था—कोकिला पञ्चम में अलापती हुई जब दिशाओं को कँपा रही थी, अचानक मानों घोर घटा कहीं से उमड आई। झञ्झावात झोंका-पर-झोंका देने लगा। शान्ति को भङ्ग करते हुए प्रचण्ड पवन ने उद्दण्ड भीषण रूप धारणकर पृथिवी को डुला दिया। प्रलय का चित्र आँखों के सामने फिर गया। इसी से कहता हूँ कि क्या से क्या हो गया।

"अजी आया जो वक्ते-बद तो सबने राह ली अपनी।
हजारों सैकड़ों में दर्दोगम दो आशना ठहरे॥"

विवश हो, भय से कातर, अपने-आपमें मुझे प्रवेश करना पड़ा। जिस प्रकार खरहा, शिकारी श्वान से ताड़ित किये जाने पर, निविड़ निर्जन कुञ्ज में प्रवेश कर, अपनी रक्षा के लिये अपनेको अकेला रखने का यत्न करता है, उसी प्रकार संसार से, समाज से, अपने-पराये से, ताड़ित होकर मुझे अपने अन्तर में प्रवेश कर भीतर की ओर दृष्टि डालनी पड़ी। वाह्य ज्ञान द्वारा अनुभवों से लाभ न उठा सकने के कारण अन्तर की ओर प्रवेश कर अन्वेषण करना पड़ा।

मन की वृत्तियों का अबतक वाह्य जगत् की ओर प्रवाह था, अब वे अन्तर्मुख फिरीं। इच्छाओं की निवृत्ति हुई। हारकर मन सुस्थिर हुआ। इच्छा के हट जाने से आशा का नाश हुआ। आशा के न रहने से मन की चञ्चलता दूर हुई। स्वशरीर तथा सांसारिक पदार्थों के प्रति

अन्तःकरण में तिरस्कार उत्पन्न हुआ। निर्वेद-भाव का मन में सञ्चार हुआ।

मेरी दशा घोंघे की-सी हो गई। जहाँ किसी ने मेरी ओर आँखें फेरीं, बस मेरी नजर झिप गई। मैं अब कच्छप-जैसा हो रहा था। जहाँ कोई मेरी ओर बढ़ा कि मैंने अपनी गर्दन सिकोड़ ली। मैं लज्जा-वती लता-सा हो रहा था। किसी ने जहाँ तर्जनी दिखाई कि मैं मुरझा गया। मनुष्य से पशु, जन्तु, कीट, यहाँ तक कि उद्भिद जाति का मैं हो गया। संसार उन्नति के शिखर की ओर अग्रसर होता है। यहाँ मैं अवनति के गर्त्त में गिर गया।

लोग मुझे पागल समझने लगे। दुनिया को मैं पागल समझने लगा। एक का दूसरे से सम्बन्ध छूट गया। लोगों का मेरे निकट और मेरा दूसरे के पास आना-जाना, सबके साथ रीति-रस्म, बन्द हुआ। दुनिया के लिये मैं मर गया और मेरे लिये सृष्टि का नहीं, तो कम-से-कम समाज का विप्लव हो गया—सभ्यता की शृंखला टूट गई—मेरी पूर्वस्मृति विलुप्त हो गई। जिस सहज दयालु प्रकृति—नग्न 'नेचर'—की गोद से निकलकर, सभ्य समाज में पदार्पण कर, मैंने अपने लिये जो एक स्थान बना रखा था, वहाँ से मैं च्युत हुआ। मुझे उसका परित्याग करना पड़ा। नहीं-नहीं बलपूर्वक मैं वहाँ से हटा दिया गया। मैं पतित हो गया, जातिभ्रष्ट हो गया, मै एक अकेला रह गया।

अस्तु, मुझे पुन. उसी दयामयी जगज्जननी प्रकृति की शरण लेनी

पड़ी। उसके सुकोमल पाद-पद्म के पार्श्व में बैठकर मैं फूट-फूटकर रोने लगा—अधीर हो विलाप करने लगा। मन में आया—

"अब्र के कतरे से हो जाते हैं मोती आबदार।
क्या हमें रोने से अपने कुछ न हासिल होयगा॥"

इससे मुझे कुछ शान्ति मिली। मेरे जीवन का अब दूसरा अध्याय आरम्भ हुआ।

चतुर्थ प्रलाप

अपने-आपमें

सृष्टि में कोई पदार्थ अमिश्रित, स्वच्छ, चोखा, खालिस नहीं है। विधि का प्रपंच गुण और अवगुण के मिश्रण से उत्पन्न हुआ है। अच्छा-बुरा, हानि-लाभ साथ-साथ रहता है। बालू पर पानी बहता है। नीर-क्षीर अलग नहीं रहता। बुरे का परित्याग और अच्छे का संग्रह, यही बुद्धिमत्ता है—इसी को विवेक कहते हैं। वर्तमान अवस्था से जो मेरी बुराई हुई, वह तो जाहिर ही है। किन्तु इससे जो लाभ हुआ, उसे सुनिये।

आय-व्यय का झंझट जाता रहा। वेश-भूषा की ओर ध्यान न रहने से, खान-पान का विचार हट जाने से, राग-रंग का बखेड़ा जाते रहने से, अपने-पराये पर खर्च बन्द हो जाने से, मुझे अर्थाभाव की

चिन्ता न रही। मुझे ज्ञात हो गया कि धन की आवश्यकता समाज के कुसस्कारों की पुष्टि के लिये है।

दूसरा मुझे निर्धन न समझे, इसी भय से, इसी अपडर के कारण, हमलोगों को अनेक झंझट उठाने पड़ते हैं--शत-सहस्र कष्टों और चिन्ताओं का सामना करना पड़ता है। यह सभ्य समाज की एक महान् दुर्बलता है। जिसमें दूसरा मुझे दरिद्र न समझे, इसी के उपाय मे हम-लोग दिन-दिन अधिकाधिक दरिद्र होते जाते हैं, और एक दिन अचानक ऐसा आ जाता है कि हमलोगों का ककाल-मात्र रह जाता है, और ससार को विदित हो जाता है कि हमलोग समाज के उपहास तथा घृणा के पात्र कगाल हैं।

बात यह है कि जो अपने व्यय को रोक नहीं सकता, दुनिया की वाह-वाही लूटने के लिये वही ऋण लेता है। जो ऋण एक बार लिया जाता है, फिर कभी उसका परिशोध नहीं होता ; क्योंकि जो अपनी आय के अनुसार अपना व्यय नहीं करता, वह कहाँ से इतना पा सकता है कि अपना नित्य का व्यय पूरा करके इतना और बचावे कि उसके ऋण का परिशोध हो। नहीं तो भरण-पोषण-जैसे आवश्यक कार्य में किसी का अधिक व्यय नहीं होता।

बाहरी ठाट-बाट, टीम-टाम, समाज और सजावट ही अपव्यय का मूल कारण है—ये ही मनुष्य को दरिद्र एव दु:खी बनाते हैं। अतएव अब समाज की परिधि से बाहर हो जाने के कारण मुझे इनकी जरूरत न रही। अस्तु।

सचमुच एकबारगी निर्धन हो जाने पर भी धनाभाव मेरे लिये कष्टकर नहीं था। दूसरे की हँसी की ओर ध्यान न रहने के कारण बहुत-सी चिन्ताओं से मैं दूर था—अब मैं बहुत निश्चिन्त था।

कहाँ-से-कहाँ चला जा रहा हूँ! समाज-शास्त्र, व्यवहार-पद्धति और अर्थ-शास्त्र की विषम समस्याओं की आलोचना कर मैं क्या करूँगा? इनका साथ तो कब न छोड़ दिया। जिनके बाँटे यह पड़ा हो वे इसकी मीमांसा करें। मैं तो आपलोगों से केवल अपना दुखड़ा सुनाने बैठा हूँ। मेरा यह अरण्यरोदन कोई सुने अथवा न सुने, मैं तो रोऊँगा जरूर। सन्निपात का रोगी, मेधा के रोगग्रस्त हो जाने पर, प्रलाप बकता ही है। उसे इस बात की क्या चिन्ता रहती है कि कोई उसकी बातें सुनता है, समझता है, उसपर कान देता है या नहीं।

भूत-भविष्य का ध्यान छूट जाने के कारण मैं वर्त्तमान ही में रहने लगा। इसी से मुझे काम कम रह गया। अब जान पड़ता है कि मनुष्य को पूर्णतया वर्त्तमान ही में, वर्त्तमान ही के लिये, रहना चाहिये—भविष्य की चिन्ता व्यर्थ है। वर्त्तमान ठीक रहने से भविष्य अपनी राह आप लेता है।

भविष्य की चिन्ता छूट जाने से मुझे समय का अभाव न रहा। दिन रात मेरी अपनी थी। देखते-देखते मैं साल, महीना, तिथि—सबकी गणना भूल गया। मेरे लिये जैसा आज, वैसा कल, वैसा ही परसों। सब एक-सा हो गये। न नींद, न अवकाश। न परिश्रम, न विश्राम। अब कोई कर्त्तव्य ही न रहा—हृदय ही न रहा—उत्तरदायित्व

ही न रहा, तब जल्दी किस बात की, परेशानी कैसी, दौड़-धूप किसलिये ? क्या करते हो—जब यह कोई पूछनेवाला ही न रहा, तब चिन्ता ही क्या रही कि मैं क्या करता हूँ और कब क्या करूँगा ?

आगामी कल के लिये झखना व्यर्थ ही है, क्योंकि आत्मा यथेष्ट भरण और शरीर यथेष्ट पोषण है। जब भरण-पोषण की चिन्ता ही न रही, तब अशन-वसन की चिन्ता क्या ? शरीर-मन्दिर परम रम्य है, क्योंकि हर ऋतु में—सब काल, सब समय में—यह काम देता है। यह मनुष्य के पास सदा रहता है, उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करता है। अध्यात्म-द्वारा यह आत्मा का निकटवर्त्ती हो जाता है। इसी से कहा जाता है कि योगी सहस्रों वर्षों तक समाधि में लीन रहते हैं—कुछ खाते-पीते नहीं, पहनते-ओढ़ते नहीं, तब भी उनमें कोई विकार नहीं आता और न उनका शरीर ही नष्ट होता।

इसका कारण उस समय मुझे मालूम नहीं था, क्योंकि इस ओर मैंने कभी ध्यान नहीं दिया था। किन्तु अनुभव-द्वारा अब ज्ञात हुआ कि मन में एकाग्रता आने से इन्द्रियाँ अपना काम नहीं करतीं, इसी से उनमें श्रान्ति नहीं आती।

"मन एव मनुष्याणा
कारण बन्धमोक्षयोः"

मन ही के बनाये मनुष्य बनता है और इसी के बिगाड़े बिगड़ता है—"मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।"

सब कुछ इसी मन पर निर्भर है। हमलोगों को सब नाच यही नचाया करता है। माया अपना सब काम इसी के द्वारा करती-कराती है; क्योंकि इससे परे—इसके बाहर—तो किसी ने माया का अनुभव ही नहीं किया। इसी मन के मरने पर मनुष्य एक नया जन्म पाता है। तब इसका तेज, प्रताप और प्रभाव देखने में आता है।

मन-रूपी मेरा पिशाच अब मर गया था। मुझे अब वह बेचैन नहीं किये रहता था। अब मुझे सताने की उसमें क्षमता नहीं थी। कोई लक्ष्य न रहने के कारण मुझे अब आशा के आसरे की आवश्यकता न रही। आशा के नष्ट हो जाने से वासनाओं का भी विनाश हो गया। कहीं कुछ नहीं—सब शून्य—सब साफ।

"बीनाई न थी तो देखते थे सब कुछ।
जब आँख खुली तो कुछ न देखा हमने॥"

अब मुझे जान पड़ा कि आजतक संसार-स्रोत में मैं बहता चला जाता था। वासना का खिलौना बना मैं नाना प्रकार का खेल दिखा रहा था। देख-देखकर कोई हँसता था, कोई रोता था, कोई आनन्द पाता था, कोई कुढ़ता था, कोई खीझता था, कोई रीझता था। किसी को इससे लाभ पहुँचता था, किसी को हानि। किन्तु अपने व्यक्तित्व का मुझे ज्ञान नहीं था। मैं यथार्थ में क्या हूँ, इसे मैं नहीं समझ सकता था और न मैंने कभी इसके समझने की चेष्टा ही की थी। इसे समझने का, इसको जानने का मुझे अवकाश ही कहाँ था। जमाने की रविश में पिला हुआ था। आत्मा की पुकार की ओर कान नहीं था। बाह्य

ससार की चमक से आँखों में चकाचौंध लगी हुई थी। अपने-आपको देखने की शक्ति ही कहाँ थी।

जो माथे पडा, जो सामने आया, जिसमें अपना हाथ नहीं, उसे सहने के अतिरिक्त निस्तार का दूसरा उपाय न देख मैंने उसे सहर्ष अङ्गीकार कर लिया। जैसा सही वैसा ही सही। यह विचार दृढ होते ही मुझे ज्ञात हुआ कि मैं अपनी आत्मा के समीप पहुँच गया।

मैं तो स्वात्मघाती था ही; पर देखा कि मेरा स्वागत करने के लिये मेरी अन्तरात्मा प्रस्तुत है—हाथ बढाये खड़ी है। उसके ससर्ग में आने से मुझे भान हुआ कि मनुष्य स्वभावत. शिशुवत् सरल, स्वच्छ, निश्छल होता है। केवल आस-पास के झमेले में पड़े रहने के कारण इसमें विकृति आ जाती है और यह अस्वाभाविक रूप धारण कर लेता है। सुनकर लोगों को आश्चर्य होगा। किन्तु तब से मैं एक प्रकार सुखी हूँ। सबको छोड-छाड़कर अपने-आपमें जब मैंने प्रवेश किया तब क्रमशः मुझे नये-नये अनुभव होने लगे।

एक दिन मुझे ज्ञात हुआ, वरन् अनुभव हुआ कि नम्रता, जो सब सद्गुणों की जननी है, मुझमें है। किन्तु बहुत-से दुर्गुणों के आ जाने से इसकी स्थिति अपनेमे मुझे जान नहीं पड़ती थी। मेरे अन्तः-करण के किसी एक गुप्त स्थान में, हृदय के किसी अलक्ष्य कोने में, यह उसी प्रकार छिपी पड़ी थी जिस प्रकार किसी घोर निर्जन वन में, गम्भीर कानन मे, पर्वत के अञ्चल में, अथवा असीम मरुभूमि में, अमूल्य पदार्थ की कोई खान छिपी रहती है। खान के खोदे जाते

समय जिस प्रकार हीरा भू-गर्भ से कहीं चमक उठता है और उसकी प्रभा से, उसकी ज्योति से, उसके प्रभाव से, सारी खान प्रकाशमय हो जाती है, उसी प्रकार इसका पता लगने पर मेरे तमाच्छन्न हृदय में एक विचित्र दीप्ति छिटक पड़ी ; क्योंकि मैं यह खूब जानता था कि नम्रता ऐसा गुण नहीं है, जिसे सीख-पढ़कर, अनुशीलन-अभ्यास-द्वारा कोई प्राप्त कर सके। यह गुण स्वाभाविक है, सहज है। जन्म ही से जिसमें है उसमें है। सगत से, संसर्ग द्वारा, देखा-देखी, अनुकरण कर, कोई इसे अपनेमे ला नहीं सकता। अभ्यास की सहायता से मिथ्या-वादी सत्यवादी बन सकता है, घृणा प्रेम में परिणत हो सकती है, ठोक-पीटकर मूर्ख को पडित बना सकते हैं—चाहे तो पापी भी पुण्यात्मा हो सकता है ; पर जिसमें नम्रता नहीं है, वह यदि नम्र बनने की चेष्टा—वरन् ढोंग—करता है तो पाखडी हो धूर्त्त के पद का अधिकारी हो जाता है ; वञ्चक, कपटी, कुटिल बन बैठता है। काँच क्या कभी हीरे का गौरव प्राप्त कर सकता है ?

उस दिन अपनेमें कुछ ऐसा परिवर्त्तन आ गया कि अपने-आपसे मैं अपरिचित-सा हो गया। मुझे स्वय अनुभव होने लगा कि अब मैं वह नहीं हूँ जो मैं पहले था। मेरी दशा खान में हीरा पाये हुए किसी मजदूर की हो गई। अब मुझे ज्ञात हुआ कि वाह्य सृष्टि की उलझनों मे व्यर्थ फँसे रहने के कारण मेरी ज्ञान-इन्द्रियाँ मन्द पड़ गई थीं। प्रकृति के सन्देश को सुनने-देखने-समझने में मैं असमर्थ हो गया था। मैंने आत्मा की पुकार सुनी, सुनने से अनुभूत हुआ कि मेरे भीतर ही

एक विचित्र आश्चर्य-जनक सृष्टि है। ज्ञात हुआ, कोई साफ पुकारकर कह रहा है—

"शेखो बरहमन दौरो-हरम में ढूँढते हो क्या लाहासिल।
मूँदकर आँखें देखो तो है सारी खुदाई सीने में॥"

पूर्वाजित शुभाशुभ कर्म-फल के प्रभाव से मेरे भीतर एक नई दुनिया बनी हुई है जिसमें देखने, सुनने, विचारने की अनेक चीजें हैं। जान पडा कि जगत्कर्त्ता ने हरएक जीव के लिये उसके भीतर एक नई सृष्टि कर रखी है। किन्तु इस अन्तःराज्य में भ्रमण करने—निवास करने के लिये मनुष्य को स्वावलम्बी होना पड़ता है। इसमें किसी दूसरे से कोई सहायता नहीं मिलती। अपने बाहु-बल से इस अपार सागर को सन्तरण करना होता है। इसके मनन-चिन्तन से व्यक्तित्व का विकास होता है, आत्मशुद्धि होती है—खरे-खोटे की पहचान, दुर्गुणों का ह्रास और शुभ गुणों की वृद्धि होती है, जीव अपनी सत्यता को अनुभूत करता हुआ चैतन्य हो जाता है। शनैः-शनैः भान होने लगता है कि यह सत्यता यह चेतना सम्यक् रूप से सृष्टि के सब पदार्थों में है। यही बहरे-हस्ती है। इसकी लहर एक-सा हर रूप में, हर रग में, हर आकार-प्रकार और गन्ध-रस में लहरा रही है। इसी से तो जानकार पुकार-पुकारकर कह रहे हैं—

"हर आन में हर बात में हर रग में पहचान।
आशिक है तो दिलदार को हर रंग में पहचान॥

तनहा न इसे अपने दिले-तग में पहचान।
हर बाग में हर दश्त में हर सग में पहचान ॥"

इसी का वर्त्तमान रहना जीवन है, इसी का हट जाना मरण है। इसी तत्त्व को जान लेने पर मनुष्य समझने लगता है कि इसी सत्य की सत्यता से जड जगत् भी चैतन्य दीखता है—मिथ्या भी सत्य का रूप धारण किये रहती है।

अब मैं भी अपनेको इस विशाल जगत् का अङ्ग मात्र समझने लगा। मैं जान गया कि निज का स्वतन्त्र सुख-दुःख कुछ नहीं है। न उसकी ओर भ्रूक्षेप करनेवाला कोई है और न किसी में शक्ति है कि उसे हटावे—उसमें रद-बदल करे, उसे बढ़ावे-घटावे, उसका निवारण करे। खेलाड़ी ने लट्टू को नचा दिया। कुम्हार ने चाक चला दिया। उनपर जो हैं उन्हीं के साथ चक्कर खा रहे हैं। इसके लिये किसी दूसरी क्रिया की आवश्यकता नही है। जबतक वे उनके ऊपर रहेंगे, चक्कर के बाहर नहीं हो सकेंगे। इससे बचने का उपाय, एकमात्र उपाय, उससे अपनेको अलग करना है। अलग से देखने ही पर उसका रहस्य जान पड़ता है, कुछ मजा मिलता है। दूसरे को छटपटाते, हाथ-पैर पटकते, देखने पर हँसी आती है। मतवाले को हँसने का अवकाश कहाँ! उसके देखनेवाले ताली पीट-पीटकर उसपर कहकहा भले ही भरते रहें।

पंचम प्रलाप

परिणाम

स्वतन्त्र रूप से अच्छा और बुरा कुछ नहीं है, यह शास्त्रज्ञान तथा अनुभव द्वारा मुझे सत्य प्रतीत होने लगा। आजकल उस महाचक्र से अलग होकर दूर खड़ा मैं अपूर्व दृश्य को, अलौकिक विस्मयजनक तमाशे को, देख रहा था। अपने दुःख-सुख का ध्यान जाता रहा। दुःख को दुःख वा सुख को सुख अब मैं नहीं समझता था, क्योंकि इसमें भी मुझे मति-भेद, रुचि-भेद, विचार-भेद दीख पड़ने लगे। देखा कि उसी एक वस्तु, बात अथवा काम को एक अच्छा और दूसरा बुरा कहता है, समझता है और मानता है। यह भी देखा कि जिस वस्तु को पाने के लिये एक, जिसके पास वह नहीं है, लालायित है, उसी वस्तु को रखने—अपनाये रहने—के कारण दूसरा व्याकुल, परीशान,

बेचैन हो रहा है। लाख यत्न—उपाय—करने पर भी वह उसे अपनेसे दूर नहीं कर सकता है, हटा नहीं सकता है।

देखते-देखते मैं थक गया, ऊब गया। अकेला रहने के कारण, एकान्तवास से, मेरा ध्यान इधर-उधर नहीं बँटता था, मन की चञ्चलता दूर हो गई थी। कोई ऐसा नहीं जिसके साथ बातें करूँ। अतएव मैं मौनावलम्बी हो गया। न मेरे पास कोई आता और न मैं किसी के पास जाते। संग्रह, त्याग, भाव, अभाव की अपने लिये चिन्ता न रहने के कारण मेरा हृदय-सरोवर सुस्थिर हो रहा था। वासना-पवन का प्रवाह न रहने से मन थिर था। उसमें तरङ्गें नहीं थीं, लहरे नहीं थीं। अतएव जो छाया अन्तर या बाहर की उस पर पड़ती थी, उनमें विकृति नहीं आती थी, वे सच्ची स्वाभाविक रहती थीं। हृदय-दर्पण के साफ हो जाने के कारण आत्मा का प्रकृत उत्कृष्ट प्रतिविम्ब उसपर पड़ने लगा। मन के सुस्थिर रहने से इन्द्रियाँ शिथिल हो गई।

इधर जो कोई एक विषय मन में आया, उस पर बुद्धि महीनों—वर्षों—एकाग्र रह गई। बात यह थी कि अब दूसरे के कहने-सुनने पर विश्वास करने की आवश्यकता न रही। पढ़ी सुनी, गुनी बातों, सिद्धान्तों के फेर में आ, किसी काम के करने की जरूरत न रही। इस तरह कार्य-क्षेत्र से एक प्रकार मेरी विदाई ही हो गई।

पहले कुछ दिनों तक मुझे यह बहुत अखरता रहा। जी चाहता था कि कहीं भाग जाऊँ। फिर सोचता, किससे भागूँ और भागकर कहाँ जाऊँ, क्योंकि जिससे मुझे भागना था, वह तो मेरा पिंड

छोड़ती ही नहीं थी—वह तो सदा मेरा पीछा किये फिरती थी। पहले मैं उसके पीछे दौड़ता था, अब वह मेरे पीछे दौडने लगी। इससे ही जान छुडाने--छुटकारा पाने—के लिये वाह्य इन्द्रियों का सहारा लेना मैंने बन्द कर दिया था।

एक दिन अन्तःकरण में उदय हुआ कि विना मर-मिट गये किसी को कुछ प्राप्त नहीं हुआ है। राजकुमार शुद्धोदन को मारकर गौतम ने ससार में अपनी विजय-पताका फहराई। षट्शास्त्री, पडित-प्रवर निमाईचन्द्र का विनाश हो जाने पर महाप्रभु गौरचन्द्र का वग-गगन में उदय हुआ। जिस ईसामसीह के जीवनकाल में केवल वारह शिष्य थे— जिनमें एक वह भी था जिसने किञ्चित् द्रव्य के लोभ में पड़-कर अपने गुरुदेव, अपने स्वामी, अपने नायक, अपने पूज्य को वैरियों के हाथ वेच दिया था—उसी मसीह के सूली पर चढाये जाने, कष्ट से कलेवर वदलने के वाद ससार में इतने उनके शिष्य हुए। जो ईसा अपने जीवन-काल मे केवल मछुओं को शिष्य बना सका था, उसी के उत्तराधिकारियों के पैरों पर विराट सम्राटों को अपना मुकुट-मडित शीश सहर्ष झुकाना पड़ा। क्यों? अपने सिद्धान्तों पर अटल—अपनी धुन का पक्का रहने के लिये उन्होंने अपने रुधिर की नदी वहाई, और ऐसा करते तनिक हिचके तक नहीं।

जिसे जान प्यारी है, उसे आन नहीं है। जिसे आन है, उसी का मान है। जो अपनी जान को हथेली पर लिये फिरता है उसी की विजय वैजयन्ती फहराती है। मंसूर यदि सूली पर चढ़ते हिचकता तो

आज दिन वह संसार में अमर न होता। विषाद नहीं, रंज नहीं। सूली पर चढ़कर वह औरों को अपना अनुगामी होने के लिये जोर-जोर से सानन्द पुकारने लगा।

"चढ़ा मसूर सूली पर, पुकारा इश्कबाजों को।
य' उसके बाम का जीना है आवे जिसका जी चाहे।"

भुशुडी यदि शाप के भय से भीत हो जाते तो वह अविनाशी कदापि न हो सकते। लेने के पहले सदा देने पड़ते हैं।

होगी न कद्र जान की, कुर्बां किये बगैर।
कीमत उठे न जिन्स की, अर्जा किये बगैर॥

यह तो कह आये हैं कि अतीत वा भविष्य की चिन्ता न कर वर्त्तमान के साथ मैंने अपनेको लीन कर दिया था। पहले का मैं मर गया, भस्मीभूत हो गया। यहाँ से मेरा नवीन जीवन आरम्भ हुआ, नई जिन्दगी शुरू हुई। मैं जो पूर्वकाल में था, अब नहीं रहा। अब मेरी यहाँ से एक नई सृष्टि हुई। पूर्वपरिचित लोग मुझे भूल गये। उनके चगुल से मैं निकल गया। उन लोगों ने मेरा पीछा छोड़ दिया। उनसे मेरी रक्षा हुई—मेरी जान बची।

इस समय बहुत कष्ट, यत्न और उपचार द्वारा मैंने अपनेको यह सिखाया कि तू सबको क्षमा कर दे, किसी से वैर-भाव न रख। अपने, पराये, हित, मित्र, सुहृद, उदासीन अथवा शत्रु का जो मेरे संग कुव्यवहार हुआ था, उसे भूलने की मैंने चेष्टा की और बहुत उद्योग, अनुशीलन एव अभ्यास के बाद मै इसमें कृतकार्य भी हुआ—मुझे सफलता भी

प्राप्त हुई। मेरे लिये अब सब-के-सब समान हो गये, किसी का आसरा नहीं, किसी का त्रास नहीं। कोई अरि नहीं, कोई मित्र नहीं। कोई अपना नहीं, कोई पराया नहीं। न आदर न निरादर, न मान न अपमान, न हानि न लाभ। न स्तुति की चाह और न निन्दा की आह।

इस अवस्था तक पहुँचने के बाद मैं बड़ा निश्चिन्त हो गया—अनिर्वाच्य सुखशान्ति का भोग करने लगा। पर इसका पता दूसरों को न था। दूसरे तो मुझे दीन-हीन समझते थे। किन्तु मैं अपनेको राजराजेश्वर मानता था। इस भाव को आप लोग समझ सकते हैं वा नहीं, मैं नहीं कह सकता, और न आप लोगों को समझाने की मैं चेष्टा ही कर सकता। मैं तो बार बार कह रहा हूँ कि मुझे कहना है, इसी से कहता हूँ, कोई सुने चाहे न सुने, समझे चाहे न समझे, माने चाहे न माने। जो मेरे हाथ में है वह मैं करता हूँ। जो दूसरे के हाथ में है उसकी चिन्ता वह करे।

सबको अपने-अपने काम पर मुस्तैद रहना—अपने कर्त्तव्य की ओर देखना चाहिये। अपने काम को छोडकर दूसरे के कामों की आलोचना करने जाने में बडा बखेडा होता है।

हमलोग भली भाँति जानते हैं और बताते चलते हैं कि दूसरे को क्या करना चाहिये, दूसरे का कर्त्तव्य क्या है। किन्तु उसका शतांश भी नहीं जानते और न जानने की कोशिश करते हैं कि अपना कर्त्तव्य, फर्ज, डिउटी क्या है।

दूसरे के व्यवहार में विधि एवं निषेध की शृङ्खला की जैसी रक्षा और पालन हमलोग चाहते हैं वैसा अपने किये कार्य में नहीं चाहते। इसी से भूमंडल में अधिक अशान्ति फैली रहती है। यदि सब-के-सब अपनी ओर, अपने कामों की ओर, अपने रहन-सहन व्यवहार की ओर, अपने कर्त्तव्य की ओर, पूरा ध्यान रखते, ठीक-ठीक सचाई के साथ, सावधानी से, उनका निरीक्षण किया करते, तो इतना बखेड़ा क्यों होता, झंझट क्यों बढ़ता?

अपने प्राप्त अनुभवों का निरादर करना अपनी उन्नति को रोकना है। निज अनुभवों को मिथ्या मानना, अपने जीवन को मिथ्या मानना वरन् अपनी आत्मा का हनन करना है। शुभ वा अशुभ, अच्छा वा बुरा, जिस कर्मफल का मनुष्य को सुखद अथवा दुखद अनुभव होता है, उससे लाभ उठाना अवश्य चाहिये। उसके अनुसार यदि अपना जीवन सगठित न हुआ, अनन्त की ओर इस जीवनयात्रा का वह सम्बल न हुआ, आगे के लिये अपना पथ-प्रदर्शक यदि हमलोग उसे न बना सके, तो इतने दिन जीवित रहने का, पृथ्वी का भार बनने का, इतने दिनों तक सुख-दुःख के आवर्त्त—चकोह—में डूबने—उतराने का, क्या लाभ हुआ? यदि ऐसा न हुआ तो मानना पड़ेगा कि अनन्त जीवन-जैसा एक यह वर्त्तमान जीवन भी व्यर्थ ही गया। भविष्य को सदा भूत के अनुभवों के सहारे सुधारने का यत्न होना चाहिये।

किन्तु कोई समझे अथवा न समझे, भूत कभी किसी का पीछा

नहीं छोड़ता। उससे पिंड छुडाने का एकमात्र उपाय यही है कि वर्त्तमान में उसे एक दूसरे साँचे में ढालने का यत्न, उद्योग, उपाय करना। जबतक पैर रोपकर, दृढ रूप से तुम खड़े न हो जाओ, समय-स्रोत अवश्य अपने साथ तुम्हें बहा ले जायगा। किन्तु कहाँ पहुँचावेगा, इसका ठीक पता किसको है ? यह कौन कह सकता है ?

जबतक अपने उद्देश्य, अपने सिद्धान्त, अपने लक्ष्य को हमलोग ठीक नहीं कर लेते, पाल पतवार तथा डाँड़ से रहित नौका की दशा हमलोगों की हुई रहती है। मनुष्य एक स्थान पर, एक अवस्था में, सदा-सर्वदा के लिये नहीं रह सकता। उसे आगे बढ़ना ही पड़ेगा। यदि अच्छे की ओर अग्रसर न हो तो बुरे की ओर जाना होगा। किसी बीहड अरण्याच्छादित पर्वत के मध्य मार्ग में जब वृष्टि हो रही है, ओले पड़ रहे हैं, कोई निश्चिन्त खड़ा रह नहीं सकता। यदि ऊपर की ओर बढने के लिये वह जोर न लगावे, हिम्मत न करे तो निश्चय विवश हो नीचे की ओर लुढक जायगा।

जो हो। किन्तु क्या अनुभव हम लोगों का साथ छोड़ सकता है ? किसी प्रकार हमलोग उसके प्रभाव को हटा सकते हैं ? जिस प्रकार मानवशरीर सब पदार्थों को, जिनका हम लोग खान-पान में व्यवहार करते हैं, पचाकर अपने गठन में लगाता है—उनसे देह का रुधिर, माँस, हड्डी एव मज्जा बनती है। चाहे ये पदार्थ शुद्ध हों वा अशुद्ध, पथ्य हों वा अपथ्य, विष हों वा अमृत, देह अपनेमें उनके रस को लेकर, इच्छा रहे वा नहीं, अवश्य धारण करती है। बलात्कार वह उनका

प्रभाव नसनस, रोम-रोम में पहुँचाती है और उसी के अनुकूल उसका, रङ्ग-रूप बनता है। उसी प्रकार, ठीक उसी प्रकार, जीवात्मा भी अपने विचारों, अपनी वासनाओं तथा अपने अनुभवों के सहारे अपने-में बल का सञ्चार करती है—अपनेको शुद्ध, पवित्र, स्वच्छ बनाती है।

नीच, कुत्सित, जघन्य, क्रूर विषयों के सद्व्यवहार से भी उत्तम फल उत्पन्न होता है। जीव यदि चेष्टा करे तो उसमें यह एक अलौकिक शक्ति है कि बुरे से भी अच्छा फल वह निकाल सकता है। जैसे शरीर को अपनी तुष्टि तथा पुष्टि के लिये अन्न-जल की आवश्यकता है; जिस प्रकार मस्तिष्क को अपनी उन्नति के लिये—अपना बल, अपनी प्रतिभा, पराक्रम बढ़ाने के लिये—शास्त्रज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है; उसी प्रकार आत्मा को भी अपने विकाश के लिये, अपनेमें जागृति लाने के लिये, अनुभवों का सहारा लेने की जरूरत रहती है।

इन्हीं पूर्व अनुभवों को इन दिनों मैं काम में ला रहा था। इन्हीं के द्वारा मैं अपनेको परिमार्जित कर रहा था—अपनेको स्वच्छ समुज्ज्वल बना रहा था। किन्तु लोग मुझे पागल, दीवाना, सिड़ी कहते थे।

देखते-देखते मेरे स्वभाव में परिवर्त्तन आ गया। यों तो सदा ही संसार के सुन्दर पदार्थों की ओर मैं स्वभावत: आकृष्ट हुआ करता था—प्रेम का प्यासा रहता था। मेरी दृढ़ धारणा थी कि कार्य-कारण के सिलसिले में सौन्दर्य से प्रेम का उद्रेक और प्रेम से जीव का उद्धार होता है।

"इश्क यह फल है कि तुख्म हैं यह अश्क सुर्ख।
बेखुदी है मग्ज उसका और दिल का इजतराब॥"

अतएव किसी के प्रति अब मेरे मन में कोई द्वेष-भाव नहीं रह गया। घृणा से मैं स्वयं घृणा करने लगा। अब मुझे स्पष्ट विदित हो रहा था कि घृणा से प्रेम अधिक मनोहर, मुग्धकर, सुन्दर, सुखद, शान्तिप्रद और आनन्ददायक है।

अग्नि जैसे स्वर्ण को तप्त कर, उसके भीतर से सब विकारों को निकालकर, उसे खरा, स्वच्छ, चोखा, कुन्दन बना देती है, उसी प्रकार प्रेम जीव को तप्त कर, उससे स्वार्थपरता हटा, उसे उन्नत, स्वच्छ, शुद्ध बना देता है। वस्तु वही रह जाती है, केवल उसका ओज बढ़ जाता है। प्रेम तो ज्यों-का-त्यों रह जाता है, किन्तु उसमें उज्ज्वलता अधिक आ जाती है। पात्र का भेद हो जाता है—उसके भाव में, गुरुत्व में, परिवर्त्तन हो आता है।

किन्तु सौन्दर्य में वह बात नहीं रहती। उसमें अनेक उलट-फेर हो जाते हैं। यह विषय विषम है। विभिन्नता, विषमता इसका मूल है। यह क्योंकर हटे? बिना इसके गये पवित्रता क्योंकर आवे?

इसी धुन में मैं लगा। दिन-पर-दिन बीतते गये। मुझे ज्ञात नहीं होता था कि मेरे जीवन का स्रोत किस ओर, किस लक्ष्य की ओर, किस आदर्श के पीछे, कहाँ जा रहा है?

हाँ, इतना जरूर था कि अब मेरे कलेजे के भीतर एक छेद-सा

हो गया था। इन दिनों बैठे-बैठे आँखों से झरने झरने लगते थे। दिन-रात दिल तड़पता रहता था।

> "एक टीस जिगर में उठती थी,
> एक दर्द-सा पैदा होता था।
> मैं रात में बैठा रोता था,
> जब सारा आलम सोता था॥"

पर क्यों? कह नहीं सकता।

षष्ठ प्रलाप

उत्तर-दिशा में

एक दिन बैठे-बिठाये मन में आया कि कहीं की यात्रा करूँ। क्यों ? क्या देखने को ? क्या सुनने को ? क्या सीखने को ? क्या जानने को ? क्या पाने को ? क्या करने को ? मैं नहीं कह सकता। किन्तु—

"था जी में यही जा बसूँ वीराना जहाँ हो।"

कोई बन्धन तो था नहीं। रोक-टोक करनेवाले हट ही गये थे। पवन-जैसा मैं स्वतन्त्र था। जहाँ चाहा वहीं गया। जो मन को भाया, जी में आया, वही किया। किसी से पूछना था ही नहीं। किसी से परामर्श करने की बात ही नहीं थी। बस, एक दिन शरद्-रजनी में मैं चल पड़ा।

कोई साथी नहीं, कोई सँघाती नहीं। कोई पथ-प्रदर्शक नहीं।

विराट्, बीहड़, अगम, अपरिचित, भयानक पथ। पर्वत, उत्तुङ्ग, गिरि-शृङ्ग, घोर कानन, भयङ्कर खोह, डरावनी खाई, नद, नाले, गरजते झरने, भयावने जलकुंड, हिंसक वन्य जन्तुओं से परिपूर्ण अरण्य। रास्ता देखा नहीं। जानता नहीं, कहाँ चला जा रहा हूँ। कहीं गिरकर, बर्फ से ढककर, मर जाऊँ तो किसी को पता भी न चले सवाद भी न मिले—शव पर कोई दो आँसू भी न गिराये—विमान पर कोई दो फूल भी न चढ़ाये।

"पड़िये गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार।
औ अगर मर जाइये तो नोहख्वाँ कोई न हो॥"

किन्तु घर और वन में अब अन्तर ही क्या था—आँसू गिरानेवाला, फूल चढ़ानेवाला, मेरे मरने पर रोनेवाला कोई था ही नहीं; क्योंकि इस विस्तृत ससार में अब तो मैं अकेला था। कोई ऐसा नहीं था जिसे मैं अपना कह सकूँ।

दिल के दर्द, हृदय की वेदना, मन की व्यथा, चित्त की चिन्ता, जिगर की ज्वाला, अन्तर की आह, असह्य पीड़ा को दबाये सब प्रकार दीन, मानस-मलीन, सम्बल-विहीन, लक्ष्यहीन, उन्माद-ग्रस्त-सा मैं, भूखे-प्यासे, क्लान्त-विश्रान्त, अकेला चला जा रहा था। बस, अब तो—

"प्यारे वतन से हम गये, हमसे वतन गया।
नकशा हमारे रहने का जगल में बन गया॥"

कई दिन यों ही बीत गये। एक दिन रास्ते मे भोर होते-न-होते

एक साधु से भेंट हुई। बातचीत होने पर ज्ञात हुआ कि ये सिद्धाश्रम को जा रहे हैं। फिर क्या था, मैं भी उनके साथ हो लिया। रास्ते के कष्ट का सविस्तर वर्णन करते हुए आगे बढने का पहले तो उन्होंने बहुत निषेध किया। पर जब देखा कि मेरा सकल्प दृढ है, तब उन्होंने अपने साथ मुझे चलने दिया।

उनके साथ रहने से यात्रा मेरी बहुत कुछ सुगम हुई, कठिनाइयाँ बहुत कम हुई। रास्ते उनके देखे थे; क्योंकि वे प्रायः इस प्रान्त में आया-जाया करते थे। उन्हीं के प्रबन्ध से समय-समय पर मुझे खाना-पीना आसानी से मिलने लगा। खाद्य वनफल और स्वादिष्ठ झरनों से वे पूर्ण परिचित थे। एक कमडलु और एक मृगछाला छोड उनके पास कुछ था नहीं। इधर मेरे पास एक ऊनी चादर, एक धोती, एक लोटा और एक छोटी सी पोथी थी। अभी तक पढने-लिखने का कुछ सामान रह गया था। इस समय स्मरण नहीं आता कि वह कौन-सी पोथी थी। सम्भवत' गीता होगी।

हमलोग आपस में कुछ ऐसी बातचीत नहीं करते थे। वह अपने-आपमें मग्न थे और मैं अपने-आपमें। उनके क्या विचार थे। उस समय उनके मन में कौन-सा भाव उदय हो रहा था, यह मैं नहीं कह सकता, क्योंकि मुझे ज्ञात नहीं हुआ कि वह कौन थे—किस सम्प्रदाय के किस सिद्धान्त के, किस भावना के, किस उपासना के उपासक थे।

स्वाभाविक मौन छोड़कर कौतूहलवश मैंने उनसे, उनके सम्बन्ध में, उस प्रदेश के विषय में, वहाँ के निवासियों के बारे में, जानने के लिये

एक-दो प्रश्न किये। किन्तु 'हाँ' 'ना' कह उन्होंने मुझे टाल दिया। अभ्यास-वश मैं भी चुप हो गया। राह कटने लगी।

इधर आने से ज्ञात होने लगा, मानों किसी गाढ़ी नींद से मैं जाग रहा हूँ। अपरिचित, नूतन नवीन दृश्य, वस्तु और जीवजन्तुओं को पद-पद पर देखने के कारण, मेरा कौतूहल बढता जा रहा था। प्रकृति के इस अद्भुत्, विचित्र, अलौकिक नये रूप को देखकर मुझे आश्चर्य होने लगा।

मुझे मालूम होने लगा कि सौन्दर्य की जो भावना मैंने कर रखी थी वह सकीर्ण, अति सकीर्ण थी। ऐश्वर्य तथा माधुर्य का सम्यक् रूप से ध्यान रखकर देखने, निरीक्षण करने से प्रकृति के विशाल, अनन्त, अपार सौन्दर्य का किञ्चिन्मात्र पता चलता है। इस विचार में कभी-कभी किसी चट्टान पर, निर्झरिणी के पास, किसी वृक्ष के नीचे वा किसी लता-कुञ्ज मे, मैं घटों बैठा रह जाता था।

हाँ, इतना जरूर था कि ऐसे अवसर पर मेरे पथ-प्रदर्शक कुछ छेड़छाड़, पूछताछ नहीं करते थे और न मुझे आगे बढ़ने को ही कहते थे। हम दोनों प्रायः एक थे। जहाँ रहे वहीं रहे। न उन्हें कोई जल्दी थी और न मुझे। न उनके इन्तजार मे कहीं कोई बैठा था और न मेरे। जहाँ रात वहीं रात, जहाँ भोर वहीं भोर। जोडी खूब मिली थी। "जैसे उदयी वैसे भान, उनके चुटिया न इनके कान।"

मुझसे अब न रहा गया। अलौकिक अनिर्वचनीय प्राकृतिक

शोभा-सौन्दर्य को देखता हुआ मैं पूछ बैठा—"बाबा! इस विस्तृत विचित्र सृष्टि की रचना किसने की?"

साधु—ईश्वर ने।

मै—क्यों?

साधु—कौन कह सकता है। जिसके भेद हैं वही जाने।

मैं—आप क्या समझते हैं?

साधु—जो वह समझता है वही, वा यों कहो कि जो वह समझने देता है वही।

इस प्रकार का उत्तर सुनकर मेरी विस्मृत पूर्वस्मृति में जाग्रति आ गई। तर्क ने जोर पकडा। सावधान हो मैंने कहा—"जब आपके हृदय-पट पर ज्ञान-विशेष का उदय हो गया, जब आपकी मेधा में उसका विकाश हुआ, तब वह ज्ञान आप ही का समझा जायगा। जहाँ तक मेरी धारणा है, परमात्मा सत्य है, और उसके द्वारा सत्य ही का विकाश, विस्तार एव प्रचार होता है। किन्तु जो विचार वा सिद्धान्त आपके हृदय-पट पर उदित होते हैं वा जिसका विकाश आपके मन में होता है, वह सत्य भी हो सकता है और मिथ्या भी। अतएव समझना होगा कि वह विचार वा सिद्धान्त विशेष आप ही का है।"

मेरा उत्तर सुनकर वे ध्यान-पूर्वक मेरी ओर निहारने लगे। उनका मुखमडल देदीप्यमान हो गया। मुझे जान पड़ा कि उनकी दृष्टि मेरे हृदयतल तक पहुँच गई। अब तक मैं समझ गया था कि उन्हें शास्त्रज्ञान है, वे शिक्षित हैं, पंडित हैं, विज्ञ हैं।

चतुरानन मर-मिट गये, किन्तु उसके आदि-अन्त का पता न चला। जैसा वह आप अनन्त है वैसी ही उसकी सृष्टि भी अनन्त, अपार है। जिस प्रकार वह स्वय मानव-धी के भीतर नहीं आता उसी प्रकार उसका कार्य भी मानव-बुद्धि के गम्य नहीं है। हमलोगों का धर्म है इसे देखना, देख-देखकर आनन्द का अनुभव करना, और, इसी के द्वारा उसके समीपवर्त्ती होने की कोशिश करना। आनन्द से ही आनन्दमय मिल सकता है। कार्य और कारण के ओर-छोर के पता लगाने की चेष्टा व्यर्थ है।

मैं—मैं कुछ नहीं कह सकता। कुछ नहीं जानता। मै पागल-सा हो रहा हूँ। आप सब जान गये। कहना और न कहना अब क्या रहा?

साधु—तुम्हारे कौतूहल की शान्ति के लिये, अपनी समझ के अनुकूल, कुछ कह देता हूँ। सुनो।

मैं—यह भी सही।

साधु—इतनी उदासीनता क्यों?

मैं—क्या कहूँ। आप आत्मदर्शी जान पडते हैं। तथापि आप क्या जानियेगा—आप समझ नहीं सकते। मेरे-जैसे माया-मोह में लिप्त ससारी जीवों के सुख-दुःख का मर्म आप नहीं समझ सकते। दुःख से शासित होकर हम लोग कितना उग्र हो जाते हैं, इसकी थाह आपको क्योंकर मिल सकती है? आपसे दो बातें करने की इच्छा की, जिसमें दग्ध हृदय को कुछ शान्ति मिले। इसी से कुछ कह दिया।

साधु—वह दुःख-भजन है। जब मनुष्य को यह यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि सचमुच वह दुःखी है, उसके किये कुछ नहीं हो पाता और न हो सकता है—लाख यत्न क्यों न करे, किन्तु अपने दुःख से वह छुटकारा नहीं पा सकता, अर्थात् सब प्रकार जब वह थक जाता है, हार मान लेता है, तब वह कारुणिक उसका हाथ बँटाता है—उसे दुःख से उबार लेता है। जबतक 'हम' हैं तबतक 'वह' नहीं, और जब 'वह' है तब 'हम' नहीं।

"न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता।
डुबोया हाय होने ने, न होता मैं तो क्या होता॥"

मैं—सुनना एक बात है और समझना दूसरी, और समझ जाने पर उसे कार्य मे परिणत करना तीसरी। आपने कहा, मैंने सुन लिया। इसकी यहीं इतिश्री हुई।

साधु विचित्र भाव से मेरी ओर देखते हुए बोले कि जितना ओछा दीख पड़ता है उतना नहीं है। गम्भीरता है। तत्त्व की ओर ध्यान झुक चुका है। प्राप्त होना न होना दूसरी बात है। आत्मा के कानों तक पुकार पहुँची है, तब न इस मार्ग की ओर पैर उठा है। करोड़ों जन्म की सोई हुई आत्मा में सुगबुगाहट आई-सी जान पड़ती है। अनादि काल के मुर्दे में कहीं जान न आ जाय, कौन कह सकता है।

मैं—इसका समझना मेरे लिये दुस्तर है।

साधु—सब समझ में आ जायगा। समय आने पर सब साफ-साफ झलकने लगेगा। धुनी-धुनाई तूल तैयार है। चिनगारी छूते ही रुई

का ढेर बल उठेगा, साथ-ही-साथ जल जायगा, सब जल जायगा। भेद-भाव, भाषा, आकार-प्रकार, रूप रग, सबकी इतिश्री हो जायगी--सबका विसर्जन हो जायगा। वासना, कुवासना, भय, आशा, दुःख, सुख, सबका नाश हो जायगा। देखता नहीं। जलने पर द्वन्द्वता, विभिन्नता नहीं रह जाती। एक सशा आलोक, प्रकाश, तदनन्तर एक नाम क्षार—राख—रह जाता है। कौन कह सकता है कि पहले क्या था।

मैं कुछ कह न सका। यथार्थत मैं उनके तात्पर्य को समझ भी न सका। ऐसी सगति में मैं कभी पडा न था। सुनता था कि उत्तर-दिशा में सिद्ध एव साधक अनेक रहते हैं। योगी तथा महात्माओं का यह केन्द्र है। पर वे क्या हैं? इसका मैं अनुमान नहीं कर सका था और न मैंने इस विषय का आजतक मनन ही किया था।

मुझे चुप देख साधु महाराज चलते-चलते, चारों ओर के शोभा-सौन्दर्य को देखते हुए, मुझसे नहीं, आप ही आप कहने लगे - लोग पूछते हैं कि भगवान् ने सृष्टि की रचना क्यों की? भला यह जानकर क्या होगा कि महासागर उत्ताल तरगों से तरङ्गित क्यों होता है? प्रचंड पवन विशाल विटपों की सुन्दर सुपुष्ट डालियों को धरकर क्यों झक-झोरता है? क्या कोई कह सकता है? जब जड प्रकृति के भेद का मनुष्य पता नहीं पाता तब उस अपार चैतन्य के भावों का भेद क्या पा सकता है?

फिर मुझे सबोधित कर उन्होंने कहा—"किन्तु इस समय मेरे विचार में जो बातें उदित होती हैं, तुम्हें कह सुनाता हूँ। वह सर्वेश

अनन्तकाल से पूर्णानन्द से परिपूर्ण अथाह अतल सागर में निमग्न होता हुआ अकेला अपने अपार सौन्दर्य, असीम प्रेम, अलौकिक माधुर्य की लहर को सह न सका; इसी कारण अपनी क्रीड़ा के लिये, अपने लीला-विस्तार के लिये, अपने रूप-गुण को दूसरे को दिखाने के लिये, उस निर्लेप ने, उस अविकारी अविनाशी ने, मन बहलाने के लिये, इस अपार सृष्टि की रचना की है, जिसमें लोग उसके सौन्दर्य को देखें, उसके प्रेम का साझी बनें, उस आनन्द-स्वरूप के कल्पनातीत आनन्द की आभा पा आनन्दरस में मग्न हों। समझ लो! अपनी दया का, करुणा का, प्रेम का, आनन्द का विस्तार करने के लिये इस खेल को उस अखिल अलख खेलाड़ी ने पसारा है। जबतक वह चाहता है, इसका प्रसार रहता है। जब चाहता है, इसका संवरण कर लेता है। वह विचित्र बनजारा पलक मारते अपनी दूकान बढ़ा लेता है। कोई पूछने-वाला नहीं है। कोई रोकनेवाला नहीं है। कोई टोकनेवाला नहीं है। उसके सामने अच्छा-बुरा, ऊँचा-नीचा, जेठ-हेठ, कुछ नहीं है। जबतक हम-लोग उससे दूर रहते हैं, तभी तक इस प्रपञ्च में पड़े रहते हैं। जब उसके समीपवर्त्ती हो जाते हैं, तब इनसे दूर होकर प्रेमानन्द में निमग्न रह स्वयं आनन्द-स्वरुप हो जाते हैं। उसे पाते ही लोग अपनेको खो बैठते हैं।

"उसने किया था याद मुझे भूलकर कहीं।
पाता नहीं हूँ तब से मैं अपनी खबर कहीं॥"

यह कहते-कहते उनकी आँखें बन्द हो गईं। एक सुन्दर विटप की

५

सुखद छाया में एक चट्टान के ऊपर बैठकर वे ध्यानावस्थित हो गये। मैं भी वहीं पास ही बैठ गया।

थोड़ी देर में संध्या घिर आई। वहीं, उस चट्टान पर, उस रात हम दोनों ने विश्राम किया। सारी रात एक छोटी-सी चिड़िया कहीं पास ही में बोलती रही। क्या कहती थी, नहीं कह सकता।

सप्तम प्रलाप

निर्जन वन में

चिड़ियों की चहचहाहट से जब मेरी आँखें खुलीं तब अपने-को मैंने अकेला पाया। मेरी घबराहट की सीमा न रही। पर्वत-शिखर। हिम-भूत भूधर। घोर वन। विशाल विटपों की ऊँची-ऊँची शाखा-प्रशाखाएं चारों ओर से मेघवत् अपनी घनी छाया डाल रही थीं। निर्जन अजान स्थान। हिंसक पशुओं का भय। रास्ता देखा नहीं। तिस पर मैं अकेला। अब क्या किया जाय? वह कौन थे? कहाँ चले गये? क्यों चले गये? अपने जाने की बात उन्होंने क्यों न कही? ये सब—वरन् ऐसे ही अनेक—प्रश्न मेरे मन में आने लगे। किन्तु इनमें एक का भी उत्तर मुझे नहीं सूझा।

लाचार, बहुत दिन चढ़ जाने तक, मैं वहीं बैठा रह गया। भूख-प्यास का भी असर नहीं था। चिन्ता ने ऐसा धर दबाया था कि एक प्रकार मैं सज्ञा-शून्य ही हो रहा था। अपने चारों ओर का मुझे ज्ञान नहीं था। देखकर भी मैं नहीं देखता था, सुनकर भी नहीं सुनता था। समय कितना बीत गया, मुझे ज्ञात नहीं हुआ। इस अवस्था में मैं कितनी देर तक रहा, यह भी नहीं कह सकता।

पूर्ण चेतना पुनः प्राप्त होने पर मुझे ज्ञात हुआ कि दोपहर से दिन ढल गया है। हवा में सर्दी बहुत है। मैं बैठा न रह सका—उठकर इधर-उधर, घोर चिन्ता में डूबा हुआ, फिरने लगा। प्रश्न था—इस समय किधर जाऊँ। जिन्हें अनुभव है वे जानते हैं कि इन प्रदेशों में अनजान आदमी को मार्ग मिलना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। यह मैं भी जानता था। समझ गया कि आज रात में जान नहीं बचेगी। इसी सोच में अन्यमनस्क भाव से मैं कुछ आगे बढ़ा।

दिन बीतने पर था। भगवान् भास्कर तमतमाये मुँह से वृक्षों की ओट में छिपे जा रहे थे। उनकी रश्मि झिलमिला रही थी। मेरा कलेजा धड़क रहा था। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कहीं कोई दीख नहीं पड़ता था। सुदूर प्रान्त से विकट जन्तुओं का भयानक गर्जन कभी-कभी सुन पड़ने लगा। घबराकर मैं इधर-उधर उत्सुकतापूर्ण नेत्रों से देखने लगा। अब मुझमें धैर्य की मात्रा शेष न रही।

"हे भगवन्, अब क्या करूँ !!!—कहकर मैं गिरना ही चाहता था। इस शीतकाल में भी मेरी देह से पसीना छूट रहा था। ललाट पर श्रम-विन्दु मोतियों-से निकल पड़े थे। पैर शरीर का बोझ सँभालने में असमर्थ थे।

इसी समय निकटवर्त्ती एक दर्रे से धुँआ निकलता हुआ दीख पड़ा। मेरा कलेजा उछल-उठा। एकाएक मेरी अवस्था बदल गई। जोर से लपककर मैं उस ओर बढ़ा और दर्रे के मुँह पर आ पहुँचा। धुँआ देखकर अनुमान हुआ कि यहाँ कोई जरूर रहता है। कौन है? क्या है? ये प्रश्न उस समय मेरे मन में उदित नहीं हुए। वन, झाड़ी, वनजन्तु, घातक कीट-पतंग से रक्षा पाने के लिये मैं व्याकुल हो रहा था। धुँआ है, तो आग है और आग है तो आदमी है। उससे मिलूँ, चोर हो अथवा साधु, मुझे इससे क्या। मेरे पास तो कुछ था नहीं कि कोई छीन लेता। दरिद्र भिखारी के लिये साधु और चोर दोनों समान ही हैं।

बहुत ताकने-झाँकने पर भी मुझे उस गुफा के भीतर कोई नजर न आया, और न नीचे जाने का कोई रास्ता ही मिला। अब क्या हो? मैं जहाँ था, मानों वहीं रह गया। कितने कल्प-विकल्प उस समय मेरे हृदय-पट पर उदित हो रहे थे—क्या इस समय मुझे स्मरण है?

मनुष्य की स्मरण-शक्ति ठीक नहीं रहती। बीती हुई

बातें उसे समान रूप से याद नहीं रहतीं। तरंगवत् वे हृदय-सरोवर में उठती हैं और विलीन हो जाती हैं। भूत का ज्ञान रखने पर भी वह वर्त्तमान ही में रहता है। विस्मरण-शक्ति उसकी विचित्र है। इसी के सहारे वह अपने जीवन का भार-वहन करता है। जिन कारणों के फल-स्वरूप उसे हजारों दुःख झेलने पडते हैं; उन कारणों को और साथ ही-साथ उन दुखों को—जिनसे वह अत्यन्त पीड़ित हुआ था—उनके हटते-न-हटते, सहज ही भूल जाता है। जिस अग्नि के स्पर्श से उसकी अँगुलियों में छाले पड़े थे, जाकर उसी आग में वह अपने हाथ को डाल देता है। यदि ऐसा न होता तो मदकी क्या कभी मादक पदार्थ को छूता? प्रसव-वेदना की स्मृति बनी रहने पर कामिनी क्या कभी रति की कामना करती? भगवान् की, दयालु प्रकृति की, हमलोगों पर असीम अनुकम्पा है कि हमलोगों को भूत के भूलने एवं भविष्य के न जानने का सहज स्वभाव दिया है। यदि ऐसा न होता तो पल-पल पर हमलोग यम-यन्त्रणा भोगा करते।

देखता हूँ कि मेरी लेखनी फिर बहक चली। क्या करूँ? यदि मन सुस्थिर रहता, बातों में तारतम्य तथा शृंखला रहती, तो इस राम-कहानी के लिखने की आवश्यकता ही न होती। आप सुनें और ध्यान देकर सुनें, मुझ पर क्या बीती है।

इधर-उधर से देखने पर ज्ञात हुआ कि खाई बहुत गहरी

नहीं है—प्रायः दो पुरसा हो तो हो, किन्तु नीचे जाने की कोई राह नहीं थी। अब करूँ तो क्या ?

अन्त में मेरी दृष्टि एक पेड़ पर पड़ी। खाई के किनारे झुकता हुआ वह खड़ा था और उसकी शाखाएँ नीचे की ओर लटक रही थीं, जिनसे उसका कुछ अश आच्छादित हो जाने के कारण छिपा हुआ था।

प्राणरक्षा का कोई दूसरा उपाय न देख, भगवान् पर भरोसा कर, मैं उस खाई में जाने का यत्न करने लगा। ऊनी चादर में अपने लोटे एवं पोथी को बाँधकर मैंने नीचे डाल दिया। इसका कुछ अभिप्राय था—इनके नीचे गिरने से मुझे मालूम हो जायगा कि नीचे कहीं पानी तो नहीं है। यदि कोई हिंसक जन्तु वहाँ छिपा बैठा होगा तो इनकी धमक और आवाज सुनकर वह निकल पड़ेगा।

टनाके से मेरी चीजे नीचे गिरीं। आँखे गड़ा-गड़ाकर मैंने नीचे की ओर देखा। कहीं कोई जीव-जन्तु दिखाई न पड़ा। गठरी सामने पड़ी थी, जिससे यह निश्चित हुआ कि नीचे जाने में कोई भय नहीं है—मैं निश्चिन्त जा सकता हूँ।

सावधानी से वटवृक्ष पर मै चढ़ गया और ऊपर जाकर नीचे की ओर उतरने लगा। जो शाखाएँ नीचे की ओर झुकी थीं उन पर जाकर मैंने अपनेको नीचे लटका दिया और दोनों हाथों से वरोह को सुदृढ़ पकड़ लिया।

कुछ देर तक मैं उसी बरोह के सहारे झूलता रहा। फिर अपनेको हौले से छोड़ दिया। सकुशल अपनेको चट्टान पर मैंने खड़ा पाया। जान में जान आई। भगवान् को धन्यवाद दिया।

सब कुछ छूट जाने पर भी न मालूम प्राणों की ममता क्यों पीछा नहीं छोड़ती! मुझे अब क्या था जो मरने से मैं इतना डरता था! कौन-सी आशा रह गई थी, जिसके लिये मैं जीना चाहता था?

पथ का भिखारी, जिसका अंग-अंग कुष्ठ-रोग से गलित हो रहा है—जलन, कष्ट, पीड़ा से जिसके प्राण जर्जरित हो रहे हैं, बात पूछनेवाला जिसे इस विस्तृत संसार में कोई नहीं है, जिसे न घर है न द्वार, न दुनिया में कोई अपना वा पराया, न पास में चार दाने, उसकी भी मरने की इच्छा नहीं होती, मृत्यु का नाम सुनकर वह भी काँप उठता है, उसके भी चेहरे का रंग उड़ जाता है! यों मुँह से कोई भले ही मौत को पुकारे, किन्तु हृदय से कोई मरना नहीं चाहता। इसका क्या भेद है? जैसे किसी गूढ़ तत्त्व का भेद कोई बता नहीं सकता, उसी प्रकार इसका भी भेद कोई कह नहीं सकता। और कोई जानता हो तो भले ही जाने, पर मुझे तो अभी तक ज्ञात नहीं हुआ। बड़े-बड़े योगी, ज्ञानी, यति, संन्यासी भी मौत का नाम सुनकर दहल उठते हैं, विवर्ण हो जाते हैं।

मै फिर बहकने लगा। जाने दीजिये।

हाँ, सुनिये, जहाँ मै खड़ा था, वह स्थान चारों ओर से प्रस्तर की दीवार से घिरा हुआ था। जिन्दा पत्थर को काटकर प्रकृति ने इसे बनाया था। एक ओर यह गगनचुम्बी हो रहा था। इसका शिखर हिम-तुषार का श्वेत किरीट धारण किये हुए था। जान पड़ता था कि यह बर्फ कभी पिघलती नहीं—नीचे से ऊपर तक चिकना, सजीव, एकमय। तीन ओर की भित्ति विषम थी; पत्थर के ढोके ऊपर-नीचे इधर-उधर निकले तथा बिखरे हुए थे।

कुछ देर तक चुपचाप खड़े रहने के बाद मैं इधर-उधर देखने लगा, तो पता चला कि जिस ओर से धुँआ आ रहा है वह एक द्वार-जैसा है। पर्वत के हृदय में कुदरत की बनाई हुई वह एक गुफा थी।

अब सन्ध्या का आगमन हो चुका था। जिस खोह में मैं खड़ा था, वहाँ अब अन्धकार छा गया था। किन्तु बहुत देर तक वहाँ खड़ा रहने के कारण मुझे गुफा का द्वार दीख पड़ता था। दूसरा उपाय न देख, साहस पर भार दे, मै गुफा मे घुसा।

अष्टम प्रताप

गुप्त गुफा में

भीतर प्रवेश करने पर जिस अलौकिक दृश्य ने मेरी आँखों का स्वागत किया, उसे देख मैं चिहुँक पड़ा—भय से नहीं, आश्चर्य से। मेरे विस्मय की सीमा न रही। जिस गुफा में मैंने अपनेको पाया, उसकी छत गुम्बज-सी गोलाकार थी। जान पड़ता था, पर्वत के भीतरी भाग को काटकर यह बनाई गई है। पर कब बनी? किसने बनाई? कैसे बनाई गई? इन प्रश्नों का उत्तर कौन दे सकता है? अनुमानत: तीन गज यह ऊँची होगी। नीचे की गोलाई वृत्ताकार थी, जो दस हाथ लम्बी-चौड़ी होगी। ऊपर से नीचे तक छत तथा दीवार धुँए से काली हो रही थी।

इस गुफा में एक ओर धूनी जल रही थी, जिसमें लकड़ी के विशाल

कुन्दे जल रहे थे। दूसरी ओर राख का एक चबूतरा प्रायः डेढ़ हाथ ऊँचा बना हुआ था। श्वेत भस्म का होने के कारण यह स्फटिक के गच-सा जान पड़ता था। वहाँ और कोई पदार्थ नहीं था। न जल-पात्र, न पोथी-पत्रा, न भोजनाच्छादन की सामग्री। धूनी की ज्वाला से सारी गुफा जाज्वल्यमान थी। प्रकाश काफी था। धुँआ न न रहने के कारण अग्नि कष्टकर नहीं थी। अनुमान होता था कि छत से धुएँ के निकलने का कोई प्रबन्ध था। रह-रहकर धूनी चटक उठती थी, जिसकी ज्योति से गुफा अधिक दमक जाती थी।

धूनी के प्रकाश में मैंने देखा कि खाक के चौतरे पर एक गौर-वर्ण लम्बे कद के पुरुष सोये हुए हैं। उनके शरीर में सजीवता का कोई चिह्न नहीं था। प्रलम्ब बाहु-युगल विशाल वक्षस्थल पर पड़े हुए थे। सारा बदन भस्म-मय था। दिगम्बर थे—देह पर कोई वस्त्र नहीं था। शीश के केश एवं दाढ़ी के बाल पीत स्वर्ण-से दमक रहे थे। केश और दाढ़ी में जटा बँध गई थी। मुखमंडल के चारों ओर ज्योति छिटक रही थी। मुखड़े की दीप्तिमयी कान्ति धूनी के प्रकाश से उज्ज्वल-तर हो रही थी। प्रशस्त ललाट से ज्योति छिटक रही थी। आँखें बन्द थीं। बरौनी बढ़ गई थी। कान के लोल बहुत लम्बे थे। तेज-पूर्ण आनन को देखकर मन मुग्ध हो गया। नखशिख ज्योतिर्मय था।

मैं अपनेको रोक न सका। उनके चरण-कमलों के निकट जाकर मैंने साष्टाङ्ग दंडवत् प्रणाम किया।

किन्तु मेरे वहाँ पहुँचने अथवा प्रणाम करने की सुधि उन्हें न

हुई। उनमें सगबगाहट तक न आई। पाषाण अथवा धातुनिर्मित मूर्त्तिवत् वे पड़े थे।

उनके पैरों के पास खड़ा-खड़ा मैं ऊपर से नीचे तक ध्यानपूर्वक उन्हें निहारता रहा। उनकी श्वासा स्तब्ध थी। नासिका तथा उरस्थल निस्पन्द थे। यदि आनन पर आभा न होती, तो उनका शरीर शव जान पडता। जो हो, किन्तु रूप देखने से तृप्ति नहीं होती थी। जान पड़ता था कि बलात् वे मुझे अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं।

नहीं कह सकता, कितनी देर तक मैं वहाँ खड़ा रहा, किन्तु उन्हें हिल-डोल करते न देख, और बाहर जाने की भी कोई राह न पा, मैं धूनी के पास बैठ गया। रह-रहकर मैं उनकी ओर देखता और बैठा-बैठा अपने प्रारब्ध को कोसता था। मुझे ज्ञात होने लगा कि मैं अब यहीं मर-पच जाऊँगा। मरने का मुझे विशेष भय नहीं था, किन्तु भूख-प्यास की यन्त्रणा से तड़प-तड़पकर मरने का ध्यान मुझे व्यग्र कर रहा था।

ईर्ष्या, डाह, द्वेष का तो मैं अपने जानते एक प्रकार अवश्य दमन कर चुका था। मैं समझता था कि ये दग्ध बीज-कल्प हो गये हैं, मैं पूर्णरूप से निस्पृह हो गया हूँ। किन्तु अवसर पाकर उस पवित्र तपस्या-स्थली में भी ये उदित हो गये—इनमें जागृति आ गई।

अकर्मा होने के कारण मुझे अपने उन साथियों का ध्यान आया जो सासारिक दृष्टि से सुखी थे, निश्चिन्त थे। मन में उदय हुआ कि क्या अलौकिक प्रकृति का विचित्र नियम है। इसे विधि का विधान कहें वा

प्रारब्ध का भोग ? इस नित्य संतत परिवर्त्तन-शील संसार में कैसे क्या होता है ? क्योंकर एक दुख झेलता है, दूसरा सुख भोगता है ?

एक वृन्त में दो पुष्प विकसित हुए—माली ने दोनों को एक हाथ से तोड़ा। एक राजमन्दिर में जाकर राजतनया के आभरण में लगा, उसकी तथा अपनी शोभा बढ़ाई—अपने सुवास, अपने सौरभ, से महल को परिपूर्ण कर अपने पुष्प-जीवन को सार्थक करता हुआ उसने अपने-को धन्य माना। दूसरा, विमानारूढ़ शव के कफन पर पड़कर चिता-शायी हो भस्मीभूत हुआ। लोग उसे देख भय पाते हैं, अपवित्र मान स्पर्श करते हिचकते हैं, छू जाने से मार्जन-स्नान आदि के सहारे अपने-को शुद्ध करते हैं।

एक सीप से दो मोती एक साथ निकाले गये। एक राजा के गले का हार बन, राजा के अङ्ग की शोभा-श्री की वृद्धि करता हुआ, अपनी ज्योति दरबार में, रङ्गमहल में, विस्तृत करता है; लोग आँखे फाड़फाड़कर उसकी ओर देखा करते हैं, चकित होते हैं, प्रशंसा करते हैं। यत्न से रखा गया, हजारों वर्षों तक एक के गले से उतर दूसरे के गले में पड़ता गया। दूसरा, खरल में पीसा जाकर रोगी के पास जाता है, जिसे देख रोगी नाक सिकोड़ता है, घृणा करता है और जो कहीं मरीज की मौत हो गई तो उसके घरवाले इसे उठाकर कूड़े पर फेंक आते हैं। फिर कुत्ते-सियार भी इसे न पूछते, कौवा चोंचों से उसे ठुकराया करता है।

एक-गर्भ-जात दो भाई। एक सिंहासनारूढ़ है, दूसरा दरदर मारा

फिरता है, अथवा कारागार में वास कर पानी-पानी को तरसता रहता है।

क्यों ? क्या कोई बता सकता है ?

बुद्धि ने कहा—"किये का फल।" विवेक ने 'हाँ' किया। मन ने कहा—"कहाँ, कैसे ?"

प्रमाण आने लगे। दूसरे की बात क्या चलाता है ? तुझे यहाँ कौन ले आया ? सुख की स्वादिष्ठ चाशनी चखते समय नहीं पूछा कि यह कहाँ से आई। दु:ख के हलाहल से भरे लबालब प्याले को देखकर क्यों हिचकता है ? जिनका कभी कोई उत्तर न दे सका उन प्रश्नों को क्यों उठा रहा है ? जिस कारण उस दिन तुझे शान्ति न आई, कलेजा जलता रहा, वही आज भी तुझे बेचैन कर रहा है! अपने-आपमें क्यों नहीं रहता ? दूसरे को देखते-देखते तो जिन्दगी बीती। इतना करके जिसे छोडने की प्रतिज्ञा की थी, उसी के सहवास में अपनेको फिर लगाया ? जाने दे, छोड़ दे दूसरे की बात। अपनेको देख, अपने-आपमें रह। अभी न तुझसे उस साधु ने कहा कि खेलाड़ी जाने—क्या खेलता है ? क्यों खेलता है ? पुतली को क्या पडी है कि उसके कार्यों की अलोचना करे। भगवान् ने ससार की रचना अपने लिये की है, दुनिया के लिये नहीं। इसकी सृष्टि कर इसमें वह आप रमण करता है। इतनी जल्द भूल गया ?

मैं झेंप गया। मैंने अपने मन को उस ओर से हटा लिया। भूत से वर्त्तमान की ओर आया। सोचने लगा—अब क्या होगा ? ये

कौन हैं? यहाँ क्योंकर कैसे रहते हैं? क्या कर रहे हैं? जीवित हैं वा मृतक?

लाख चेष्टा करने पर भी कुछ समझ में न आया।

तब, उस गुफा के विषय में सोचने लगा। करता क्या? मन तो बेकार रह नहीं सकता। इधर से उधर और उधर से इधर दौड़ते रहना तो इसका सहज स्वाभाविक काम ठहरा। सुदृढ़ बन्धन में बाँधे विना यह कदापि टिक नहीं सकता।

हाँ! याद आया। एक दिन यह टिका था। एक अपूर्व रूप को देखकर उसका हो गया था। सबका ध्यान, सबकी चिन्ता, सब लालसाओं और वासनाओं को छोड़ उस एक के पीछे दौड़ा था; उसी एक में लीन हो गया था। उसकी वेदी पर सबको—दीन-दुनिया, अपने-पराये, सबको—बलि दे चुका था।

किन्तु तब इस संसार की, तथा इस संसार के विषयों की, नश्वरता का मुझे अनुभव नहीं था। तब नहीं जानता था कि यह सदा एक-सा रहनेवाला नहीं है। आज है, कल नहीं। कीर-जैसा सेमर-पुष्प को देख-देखकर मैं विस्मित हो रहा था, आनन्द भोग रहा था। नहीं जानता था कि काल पाकर, प्रथम-वसन्त-आगम के समय ही, यह छूट जायगा, हाथ कुछ न आवेगा।

वही हुआ। वह काल-कवलित हुई। दूसरे की हो गई। निर्दय कराल काल ने उसे अपने हाथ में किया, मै हाथ मलता रह गया। तब से मैं वेचैन हूँ। भूत-जैसा भटकता फिरता हूँ। रोता हूँ, विलखता हूँ,

झँखता हूँ, माथा धुनता हूँ। उस एक के चले जाने से जान पड़ता है कि सब गये—जीवन लक्ष्य-हीन, उद्देश्य-विहीन, हो गया।

किन्तु उसका ध्यान, उसकी चिन्ता तो बहुत दिनों से छूट गई थी। उसकी याद वर्षों से भूल गई थी। आज फिर वह स्मृति क्यों जाग रही है?

लोगों को कहते सुना है कि मरने के समय एक क्षण में जन्म-जन्मान्तर की घटना, अच्छी-बुरी करनी, सिनेमा के चित्र-दर्शनवत्, स्मृति-पट पर फिर जाती है, आँखों के सामने नाचने लगती है, जिससे अन्तकाल में जीव बेचैन हो जाता है, असह्य यंत्रणा भोगने लगता है।

ज्ञात होता है कि मेरा भी अब वही समय उपस्थित हुआ है। इसी से सब गई-बीती बातें याद आ रही हैं। यहाँ से निकलना तो अब असम्भव ही है।

जो हो, अब गुफा की बातें सुनिये।

मुझे जान पड़ा कि यहाँ ऋतु के परिवर्त्तन का प्रभाव नहीं पड़ता होगा। बाहर जो ऋतु हो, किन्तु यहाँ—इस गुफा के निवासी उसका अनुभव नहीं करते होंगे। आतप, वर्षा, शीत—इन्हें न सुख देते होंगे न दुःख।

ससार-सागर के आवर्त्त के बाहर यह स्थान है। जीवों को सदा चक्कर में रखनेवाले ससारचक्र की परिधि के यह बाहर है। दौडधूप, घूम-फिर, परिश्रम-विश्राम का यहाँ बखेड़ा नहीं है।

हरियाली कृषि, शादाब मैदान, सूखे अनाज के खड़े पौधे, खलिहान की दौंरी, अतिवृष्टि-अनावृष्टि की चिन्ता यहाँ कहाँ?

दर बढ़ी, दाम घटा, यहाँ सड़ा, [illegible] गया, वह आया; आज है, कल नहीं—इन बातों का ध्यान यहाँ किसे सताता होगा ?

विवाह की शहनाई, मृत्यु का गगनभेदी चीत्कार, प्रसव-पीड़ा, यहाँ के निवासी के मन को ये सब कहाँ चञ्चल करते होंगे—इनका असर इनपर क्या पड़ता होगा ? युद्ध की भेरी; जय की दुन्दुभी, पराजय की आह, यहाँ कहाँ पहुँचती होगी ?

हिन्दुओं का विस्मयकर साम्राज्य गया, आर्यों की दिगन्तव्यापिनी सभ्यता नष्ट हुई, तुर्कों तथा मोगलों का प्रतापादित्य अस्त हुआ। किंतु यहाँ जैसा है वैसा ही रहा होगा। यहाँ रहकर इस उत्थान-पतन को कोई क्या जान सकता है ?

जिस प्रकार ये प्रस्तर संज्ञा-शून्य हैं, उसी प्रकार जो यहाँ आया वह अनुभव-शून्य हुआ। समय यहाँ अग्रसर नही होता। अपनी धुरी पर घूमता रहता है। दिन-रात मे यहाँ क्या अन्तर है ? प्रभात या सन्ध्या अपना प्रभाव यहाँ क्या डाल सकती है ?

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि की भी यहाँ से वहिष्कृति हो गई है। बाहर जब आकाश नीलोज्ज्वल, अरुण अथवा घनघटाच्छादित होता होगा, तब भी तो यहाँ एक ही रग—धुँधलापन—अपना अटल राज्य रखता होगा। यहाँ तो सदा धुँधली रोशनी रहती है, पर नहीं कह सकता कि यहाँ के निवासी के अन्तःकरण में कैसा प्रकाश है। एक बात तो अवश्य है कि उसमें भी परिवर्त्तन नही होता होगा।

जिन्दगी तो केवल परिवर्त्तन के आधार पर चलती है। चक्कर में

रहना, चक्कर में रखना; घूमा करना, घुमाते रहना—यही इसका जीवन है, यही इसका सार है। इनका यहाँ पूरा अभाव है।

ज्ञात होता है कि स्वभाव को भी यहाँ आकर अपना स्वभाव छोड़ना होगा। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि—जो सदा जीव को डाँवाडोल किये रहते हैं—विना उद्दीपक के उदित नहीं होते। कारण या कार्य-रूप में परिणत हो ये अपनी भीषण मूर्त्ति दिखाते हैं। यहाँ उद्दीपक के अभाव से ये निर्बल अवश्य हो जायँगे, और हो सकता है कि समय पाकर इनका नाश भी हो जाय।

इस गुफा में रहकर मनुष्य कोई काम ही क्या करेगा? आशा, भरोसा, निराशा, भय, त्रास, मान, अपमान, स्तुति, निन्दा आदि द्वन्द्व के उद्रेक से जीव कोई कर्म करता है। भविष्य का ज्ञाता न होने के कारण उस कर्म के फलाफल का ज्ञान उसे नहीं रहता। अस्तु, कर्म करने के पश्चात् उसके जाल में फँसकर, उसके बन्धन में पड़कर, वह उसके शुभाशुभ फलों को भोगने लगता है। हठ से अभ्यास, अभ्यास से सहज, और सहज से स्वभाव हो जाता है। फिर कोशिश, हजार कोशिश करने पर भी वह नहीं छूटता। अतएव देखता हूँ कि यहाँ रहकर जीव, काल, कर्म और स्वभाव के गुणागुण के घेरे के भी बाहर हो जाता होगा।

उद्दीपक एवं उद्रेक के अभाव से कर्म असम्भव हो जायगा। तब तो यहाँ रहने से दुःख, चिन्ता, परिश्रम, आलोचना, छिद्रान्वेषण आदि के बखेड़े से पिंड छूट जायगा।

है तो अच्छा। किन्तु, हाँ, सब होने पर भी पेट तो पीछे लगा ही हुआ है! इसे, इस दोजख के, बिना भरे कोई रह ही कैसे सकता है। ऐसी अवस्था मे प्राण एवं काया का सयोग क्या सभव है? जीते रहना क्या मुमकिन है?

सबका जो परित्याग किया, पर पेट को कहाँ छोड़ूँ? यह तो साथ लगा ही है। सब अनिष्टों का मूल यही है। इसी के कारण सुख-शाति नहीं मिलती। इसी के फेर में पड़कर करोड़ों अत्याचार, अन्याय, हिंसा, पापकर्म करने पड़ते हैं। कर्म, धर्म, सबका नाश करनेवाला यही है। ससार को यह कैसा नचाता रहता है। विविध भेष इसी के लिये धारण करने पड़ते हैं। पशु-पत्ती, कीट-पतंग अहर्निश इसी के भरने की चेष्टा में लगे हुए हैं। जीव को समय कहाँ कि किसी दूसरे काम मे अपने-को लगावे?

बैठा-बैठा इधर-उधर की व्यर्थ बातें सोचता हुआ मैं क्लान्त हो गया। सारे दिन के परिश्रम से देह शिथिल हो गई थी। थकावट ने धर दबाया। आँखें झिपने लगीं। निद्रादेवी का आक्रमण हुआ।

बैठा-बैठा बेसुध हो मै सो गया। दीन-दुनिया, देह-आत्मा की खबर न रही। मन का अकंटक, स्वतन्त्र, राज्य हो गया। काल का भेद छूट गया। भूत, भविष्य, वर्त्तमान—तीनों ने एकमत हो एक ही रूप धारण किया। सत्यासत्य का ज्ञान मिट गया।

नवम प्रलाप

आदिशक्ति

आह्लादिनी, मुग्धकरी, कुहुकनी, रजनीचरी, स्वेच्छाचारिणी स्वप्नदेवी अपने विचित्रानन पर घूँघट दिये, अपने नैसर्गिक मुखडे को कुहर-माला में छिपाये, कहीं पास ही भ्रमण कर रही थीं। सुअवसर पा धीरे-धीरे वह मेरे मस्तिष्क में प्रवेश कर गई। उन्हें आते मैंने नहीं देखा। कब किसने उन्हें आते-जाते देखा है ? किसे कब उनकी गति का पता चला है ?

अब क्या था। सम्भव-असम्भव, होनी-अनहोनी में अन्तर न रहा। साध्य-असाध्य का बखेड़ा हट गया। मैंने देखा कि मैं एक विविध प्रकार के विटपों, रंग-विरगे पुष्पों तथा भाँति-भाँति की लता-वल्लरियों से परिपूर्ण हरी-भरी सजी-सजाई सुन्दर

सुरम्य वाटिका में भ्रमण कर रहा हूँ। मरमर-पाषाण निर्मित एक गगनचुम्बी अमरावती एक पुष्करिणी के किनारे खड़ी है। पुष्करिणी के घाट माणिक के बने हैं। बिल्लौर-जैसा स्वच्छ जल उसका है। बीच में रंग-विरंगे कमल खिल रहे हैं।

पूर्व-दिशा में उषादेवी का अञ्चल फहरा रहा था। किन्तु अभी चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार था। सुमन-सौरभ से दिगन्त प्लावित हो रहा था। कहीं कोई था नहीं। विना रोक-टोक के मैं उस अमरावती मे चला गया। सुगन्धमय दिव्यालोक से सब कमरे आलोकित हो रहे थे। उनमे बहुमूल्य गलीचे बिछे थे, जिनमें पैर धँसता था। खिड़की और दरवाजों पर मनोहर परदे पड़े हुए थे। दीवारों पर पेड़-पौधे तथा चिड़ियों के सुन्दर सजीव चित्र बने थे।

घूमता-फिरता मै मध्यवर्त्ती दालान के द्वार पर पहुँचा। आँखो को तिलमिलानेवाले रजत एवं स्वर्ण के रत्न-जटित विविध अलौकिक पात्र ठिकाने से सजे हुए थे। एक ओर एक रत्न-सिंहासन था, जिसके मंडप से मोतियों की लड़ियाँ लटक रही थीं। सामने हाथी-दाँत की एक चौकी थी, जिसपर कामदार कारचोबी की हरी मखमली गद्दी, मसनद तथा बालिश थे। ऊपर कामदार चाँदनी, सोने के खम्भे के सहारे, टँगी हुई थी।

सिंहासन पर एक देवी-मूर्त्ति विराजमान थीं। शीश पर रत्न-खचित एक कञ्चन-किरीट था। श्वेत पाटम्बर में सोने के

तार से हीरे की कनियाँ टँकी हुई थीं। देह की द्युति, आनन की कान्ति, पल्लवत् चरणों की आभा का क्या वर्णन हो सकता है? उस ओर दृष्टि डालना कठिन था।

उनके अद्भुत् अपूर्व अनिर्वचनीय अपार सौन्दर्य की अटकल मैं नहीं कर सका। उनकी तथा प्रबाल, रजत, हेम, गजदन्त, हीरा, लाल, पन्ना, पोखराज, मणि और माणिक्य की प्रभा से मेरे नेत्रों में चकाचौंध-सा हो रहा था। कहीं दृष्टि ठहर नहीं सकती थी।

एक बार उनकी ओर देखने की मैंने चेष्टा की। परन्तु सफल न हुआ। चमक से आँखें बन्द हो गईं। पलकें झिप गईं। हाँ, इतना देख सका कि उनके एक हाथ में रक्त कमल और दूसरे में नील कमल है, जिन्हें वे स्वभावत. फेर रही हैं। विविध पुष्पों के मनोहर अलङ्कारों से उनका परम शोभा-मय शरीर अलकृत था। दीवार से, छत से फूलों के गजरे तथा लड़ियाँ लटक रही थीं। सिंहासन, चौकी, चँदोवा, सब सुमन-जाल से ढके थे। फर्श पर कमल, कुमुद तथा गुलाब के दल बिछे हुए थे, जिनकी सुगन्धि से घ्राणेन्द्रिय घबरा उठती थी। वाह्य इन्द्रियों में इतनी शक्ति कहाँ कि इतनी गन्ध, इतनी चमक और ऐसे रूप को सह सकें। ये व्याकुल हो उठीं।

वीणा की मधुर झंकार मैं सुन रहा था। उसे सुनकर मैं मन्त्रमुग्ध भुजंग-सा हो रहा था। ऐसी मनोरम तान-तरग ने

आज तक मेरे कर्ण-रंध्र में प्रवेश नहीं किया था। मैं कुछ समझ न सका। क्या करूँ—यह भी निश्चय न कर सका।

चँदोवे के नीचे हरे रंग की कामदार रेशमी साड़ी पहने एक रमणी विराजमान थी। उसके केशदाम खुले हुए थे। कानों और शीश पर हीरा-जटित स्वर्णाभरण थे। सुन्दर सुकोमल कलाई को भी रत्न-खचित हेमाभूषण सुशोभित कर रहे थे। हाथ में वीणा थी। इसी की झंकार सुन मैं आकृष्ट हुआ था।

न जाने कैसे अकस्मात् इस परमा सुन्दरी ने अपने चन्द्रमुख को मेरी ओर फेरा। बस, अब क्या था! मैं चौंककर चीख उठा, और विना कुछ सोचे-समझे कमरे के भीतर घुसना चाहा।

चौकठ के भीतर पैर रखते-न-रखते 'खबरदार' की आवाज आई! मैं ठिठक गया। रमणी के हेम-जैसे हाथों से झंकार करती हुई वीणा गिर गई। पाषाण-निर्मित पुतला-सा मैं द्वार पर खड़ा रह गया।

तिरस्कार-सूचक शब्दों में सिंहासन से देवी ने कहा—"अनधिकार-प्रवेश! तुझे यहाँ किसने आने को कहा? इतना होने पर भी तू तीव्र वासना की ज्वाला से जल ही रहा है? आँच यथेष्ट खा चुका, तब भी कलुष बना ही रहा? अभी तक तू शुद्ध निर्मल नहीं हुआ। जा! जा! यहाँ से दूर जा। नहीं तो अभी भस्मीभूत हो जायगा।"

साहस पर बहुत भार देकर मैंने कहा कि यह मेरी है। आज कितने वर्षों से मैं इसे ढूँढ़ रहा हूँ। अब पाकर कैसे छोड़ सकता हूँ?

देवी ने गम्भीर स्वर से कहा—"कौन किसका है? सब मेरे हैं।

जो विभव, विभूति, ऐश्वर्य देख रहा है और देखेगा, सब मेरे हैं; मेरी क्रीड़ा की सामग्री हैं। निखिल सृष्टि मेरी इच्छा, मेरी रुचि, मेरी कामना, मेरी कल्पना की छाया मात्र है। मेरे भृकुटि-विलास से ये और इनकी जैसी अनेकानेक उत्पन्न होती हैं और मेरी ही आज्ञा से लय हो जाती हैं। बनाना-बिगाड़ना, बसाना-उजाड़ना, तोड़ना-गढना, रखना-उजाडना, मेरी इच्छा पर निर्भर हैं। मैं वज्र-जैसा कठोर और कुसुम-जैसा कोमल हूँ। मैं इसी से इच्छामयी, लीलामयी, प्रेममयी, दयामयी तथा कराल कही जाती हूँ। परन्तु यथार्थ में आज तक किसी ने मेरा भेद नहीं पाया और न पा सकता है। जिसे जितना जनाना चाहती हूँ, वह उतना ही जानता है। चल, हट, दूर हो, अपनी राह लग।"

मैं—"किन्तु इसे तो मैं बहुत दिनों से पहचानता हूँ और खूब पहचानता हूँ। यह मेरी है।"

देवी—"तू पहले अपनेको पहचानता है जो इसे पहचानेगा? यह जानता है कि तू आप किसका है जो इसे अपना कह रहा है? नारि-जाति की यह एक अनुपम मणि है। नारि-जाति के अपार गौरव को तू क्या जानेगा? ये कर्त्ता की कारीगरी का उत्कृष्ट नमूना हैं। इनके द्वारा जो कार्य मैं सिद्ध करती हूँ वह किसी दूसरे उपाय से होना सम्भव नहीं है। इन्हीं के सहारे मैं जीवमात्र की उत्पत्ति, पालन एव संहार करती हूँ। इनके योग से जो कार्य सिद्ध होता है वह कोटि यत्न से भी किसी दूसरे उपाय से नहीं हो सकता। इन्हीं की सहायता से मेरी लीलाओं का समुचित, समुज्ज्वल, आशातीत विकाश तथा विस्तार

होता है। प्राण-तोषिणी जननी ही प्राणनाशिनी, शक्तिहासिनी कामिनी है। एक रूप से एक को पालती है और दूसरे रूप से दूसरे को मारती है। जो सुधा-पूर्ण कनक-कलशी मनुष्य का पालन-पोषण करती है, उसी की ओर आकृष्ट हो जीव-मात्र अपने बल-वीर्य-पुरुषार्थ को खो बैठते हैं। कामान्ध रहने के कारण तुझे इसका ज्ञान नहीं हो सका।"

मुझे चुप देख आप फिर कहने लगीं कि हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि एक बार तेरे लिये यह भेजी गई थी। इसके प्रति तेरा प्रेम देख मेरी इच्छा थी कि इसे तुझे दे दूँ। किन्तु तेरा प्रेम निःस्वार्थ न रह सका। उसमें दृढ़ता न रही। वासना के चपेट में पड़ वह कलुषित हो गया। पवित्र प्रेम ने कम-से-कम एक बार विलास का जघन्य रूप धारण कर लिया था। तू तपोभ्रष्ट हो गया। सिद्धि तुझसे कोसों दूर हट गई। देखता नहीं कि पलभगुर मोहमूलक आसक्ति को तूने माधुर्यमूलक अपरिमित प्रेम मान लिया। प्रतिक्षण नाशवान् प्रतिच्छाया को चिरस्थायी मूल समझ लिया। अनित्य में नित्य की, असत्य में सत्य की, भ्रमवश तुझे धारणा हुई। नश्वर में स्थायी का, विनाशवान् में अविनाशी का भान हुआ। चञ्चल दैहिक सौन्दर्य को देखकर मुग्ध, मोहित, भाव-विभोर हो गया। अचल आत्मसौन्दर्य की ओर तेरा ध्यान नहीं गया। क्षणिक चक्ष्वेन्द्रिय सुख में अनन्त प्रेम-पूर्ण परानन्द की भ्रान्ति हुई। तप्त सैकत पर पड़े हुए नीरकण को तूने स्वच्छ सद्यः-जात सीपज समझ लिया था—काँच में रत्न का भास पाया था। इसी से तुझे विरल वेदना भोगनी पड़ी—खेद, सन्ताप, ग्लानि से जर्जरीभूत

हुआ—तेरा अन्तस्तल दग्ध हुआ—प्राण शोकाकुल हुए, क्योंकि यह तेरी विवेक-हीन मूढता थी—असूक्ष्मदर्शिता थी। अशान्तिमय काम-कानन में विहार कर क्या कोई कभी सुख-शान्ति भोग सकता है—निश्चिन्त हो सकता है? जान रख, गाँठ में बाँध ले—वियोग में रोते-रोते जब काम्य भाव नष्ट हो जाता है तब विशुद्ध प्रेम का उदय होता है। यों क्या कर रहा है? रजत-दर्पण में अपने मुखड़े को देख। धिक्! क्यों रे! क्या सच्ची लगन लगने पर लालसाएँ रह सकती हैं! सहज स्नेह-सरोवर में निश्छल रूप से निमग्न होने पर क्या कभी कामनाएँ बनी रह सकती हैं? पवित्र प्रेम से उन्मत्त होने पर क्या वासना-बयार कभी किसी को आकुल-व्याकुल कर सकती है! यह नशा एक बार चढने पर फिर क्या उतर सकता है? अधूरे ही भटकते हैं, पूरे अवश्य पार हो जाते हैं। अब भी चेत।

कुछ कहने के लिये, अपनी कैफियत देने के लिये, मैंने मुँह खोला। किन्तु उससे कोई आवाज न निकली। जान पड़ा, मुँह में जबान नहीं है—रसना से वाणी का वियोग हो गया है। जान पड़ा, जैसे कोई मेरा गला दबा रहा हो। मुझमें वाक्शक्ति न रही। कठ अवरुद्ध हो गया। जीभ तालू से सट गई। मा वीणापाणि-वाणी ने अपना सम्बन्ध वागिन्द्रिय से छोड़ दिया।

मैं हाथ मलने लगा। नेत्रों से नीर टपकने लगा। विवश, भावों के आवेग से मूर्च्छित-सा हो, मैंने वहाँ से भागना चाहा। पर पैर न

उठे। जान पड़ा, उनमें चक्की बँधी हो। वे गड़ गये थे। अपनी जगह से हटने मे असमर्थ थे।

फिर आवाज आई—

"क्यों, अब क्या रोता है? समय पर चूकनेवाला क्या कभी सँभलता है? जब कहा, तब गया नहीं; अब क्यों जाना चाहता है? सुन ले। पूरी बातें अब सुन ले। आत्मा की कौन चलावे, जीव तक का ज्ञान तुझे नहीं है। अपनेको तू सदा देह ही मानता रहा। सुनने पर, सीखने पर, जानने पर भी देह एवं देही में तूने भेद नहीं किया। दुर्बलता, कुत्सित दुर्बलता ने तुझे घर दबाया। कुवासना, कुविचार, कुव्यवहार, कुसस्कार के आवर्त्त में तू जा पड़ा। नहीं जानता, एक बार जिसका पैर फिसला, वह गया। मनुष्य यदि अपनेको आप बचावे, तभी बच सकता है। दूसरा कोई उसे क्या सहायता देगा? एक बार मना अवश्य किया जाता है। आत्मा अवश्य निषेध करती है। उसे यह काम दिया गया है। वह इसे करती है।

"कह तो, उस रात की बात याद है? वसन्तोत्सव। होलिका-दहन। अबीर गुलाल के छींटे। तेरा अधःपतन। लालसा के वशीभूत हो प्रेम ने जो मोह का रूप धारण किया था। उस समय एक बार तेरे दिल पर चोट आई थी वा नहीं? कलेजा धड़का था कि नहीं? एक भूल की भित्ति पर कर्मफल-रूपी विशाल भवन का निर्माण हो गया—आप-से-आप, किसी ने कुछ किया नहीं, किसी ने कुछ देखा नहीं—जिस प्रकार वीज से वृक्ष आप-से-आप फूट निकलता है, उग जाता है। क्या अभी

तक तुझे ज्ञात नहीं हुआ कि वासना उपासना नहीं है, जो इस प्रकार लपक रहा है। दीपक की ओर दौड़नेवाले पतग-जैसा अपनेको दग्ध न कर। सँभल जा। सावधान हो जा।"

काठ का पुतला-सा मैं चुप खड़ा रह गया।

देवी ने मुस्कुराकर फिर कहा—

"अच्छा! जैसे इतना सुना, यह भी सुन ले। यह जो मेरे सामने बैठी है, अब वह नहीं है। यह दिव्यतर, वरन् दिव्यतम हो गई है। तेरे और इसके बीच दुर्गम दुर्भेद्य पहाड़ की दीवार खड़ी हो गई है। इसमें और तुझमें आकाश-पाताल का अन्तर हो गया। यह ऊपर चढ़ी, तू नीचे गिरा। इसी कारण इतना भोगना पड़ा। प्रायश्चित्त भी अब प्रायः पूरा हो चुका। दुःखाग्नि में तपने के कारण तू प्रायः उज्ज्वल, विमल, पवित्र हो चला है। साधना पूरी होने पर सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। तपस्या पूर्ण होने पर वर मिलता ही है। एक बार तुझे पुनः अवसर दिया जायगा। इस बार यदि चूक गया तो फिर इस जन्म में कुछ नहीं हो सकेगा। यह आवागमन की यन्त्रणा विफल हो जायगी। तेरा त्राण नहीं होगा।"

मैं सहम गया। काँप उठा। आँखें बन्द हो गईं। अचेत हो वहीं बैठ गया।

दशम प्रलाप

आँखें खुलीं

कितनी देर तक मैं इस अवस्था में रहा, नहीं कह सकता ; क्योंकि समय का ज्ञान अब मुझे नही रहा। किन्तु आँखें खुलने पर मैंने देखा कि मैं ज्यो-का-त्यों, जहाँ-का-तहाँ, हूँ। कहीं कुछ हेर-फेर नहीं है। कानों मे जो आवाज पड़ी उससे ज्ञात हुआ कि इस विचित्र अभिनय का मैं पात्र न रहा, दर्शक हो गया।

वीणापाणि रमणी सम्पुट-कर कह रही थी—"एक क्षण का सम्बन्ध भी सम्बन्ध ही है। इतने संकेत से काम नहीं चल सकता। मा! समास का विच्छेद कर देने में क्या कोई हानि है? कृपा की मात्रा, करुणामयी, रंचक बढ़ा देने से हो सकता है कि इनका जीवन सार्थक हो जाय—जन्म सुफल हो जाय। मा के श्रीचरणों के दर्शन के

पश्चात् भी, भ्रम के कारण भूल होने से लोग क्या कहेंगे ? अपराध क्षमा हो। मेरी धृष्टता अमार्जनीय निश्चय है। किन्तु इस दासी को मा की असीम अनुकम्पा का पूरा भरोसा है।"

गले में अञ्चल बाँध अलौकिक बाला ने घुटने टेक विनीत भाव से प्रणाम किया।

देवी ने कहा—"चिन्ता न कर। ऐसा ही होगा। तू भयभीत न हो। लज्जित होना व्यर्थ है। तेरे इस अनुरोध का अवश्यमेव पालन किया जायगा। क्षोभ क्यों करती है ?"

इस समय उनकी वाणी तीव्र नहीं थी। कोमल—अति कोमल, मधुर—अत्यन्त मधुर थी। जान पडता था, पंचम में कोकिला अलाप रही हो—राग-सरोवर में ललित लहरी लहरा रही हो, वीणा-पाणि वाग्देवी की वीणा में झंकार भर रहा हो, कोई व्रजवासी बाँसुरी बजा रहा हो।

मैं स्तम्भित सुन रहा था।

यह सब देख-सुनकर मैं अपार चिन्ता में पड़ा। विचार की उत्ताल तरगें मेरे हृदय सागर में उठने लगीं। बीती हुई सब बातें एक-एक कर स्मृति-पट पर अङ्कित होने लगीं।

मीठे स्वर में विलुप्त स्मृति को जगा देने की अद्भुत शक्ति है। इसी से अनहद नाद सुनने से करोड़ों जन्म की बातें याद आ जाती हैं।

मैंने सोचा, क्या यह वह नहीं है। यदि है, तो इसने मेरी उपेक्षा क्यों की ? फिरकर मेरी ओर देखा तक क्यों नहीं ? बात पूछना, आलाप-सम्भाषण करना तो अलग रहा।

किन्तु नहीं, है तो यह वही जरूर। क्या मैं कभी इस रूप को भूल सकता हूँ। इस जन्म मे क्या, जन्मान्तर में भी, इस सौन्दर्य-पूर्ण दिव्य मूर्त्ति का, मेरे स्मृति-पट पर अङ्कित, चित्र मिट नहीं सकता—धुँधला हो नहीं सकता ; इसके रग फीका नहीं पड़ सकते, बाल-भर का फर्क इसमें आ नहीं सकता।

तब, क्या मूल को चित्र से मिलाने में मैं भूल करता हूँ ? क्या यह सभव है ? मेरी आँखों को क्या धोखा हो रहा है ! मेरी दृष्टि मन्द पड़ गई है ?

सब दशा हो गई। मेरे जीवन में तब से कितना परिवर्त्तन हो गया। दुनिया कितना पलटा खा चुकी। किन्तु इसकी जागृति तो ज्यों-की-त्यों बनी रही। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, सम्पत्ति-विपत्ति, रस-विरस, अनुराग-विराग—किसी ने इसपर अपना कोई प्रभाव नही डाला। सोते, जागते, स्वप्न में, सदा इसकी चिन्ता मेरे मन में बनी रही। तब इस समय मैं क्योंकर भूल कर सकता हूँ।

जो हो, यह वही है। और, देवी से मेरे विषय में जो इसने कहा, उससे भी तो यह प्रमाणित होता है कि यह भी मुझे पहचानती है—मेरे साथ अपना सम्बन्ध बताती है। तब इसके वही होने मे सन्देह ही क्या है ! तब यह पराया क्यों हो रही है ? देखता हूँ कि देखकर भी मैं इसे नहीं देख सका—पाकर भी नहीं पा सका। प्राप्त होने पर भी यह अप्राप्त ही रही !

मुझे सम्बोधित कर देवी बोलीं—

"व्यर्थ चिन्ता क्या कर रहा है! कोई किसी का नहीं है। जिसके द्वारा, जिससे, जो काम लेना होता है, उससे उसका सयोग कराती हूँ। जब वह काम सिद्ध हो जाता है अथवा देखती हूँ कि उस उपाय से वह कार्य सिद्ध नहीं होगा तब, वियोग करा देती हूँ। सयोग और वियोग, मेरी लीला मात्र हैं। इसमें दूसरे का कोई हाथ नहीं है। अपने कामों मे मैं किसी का साझा नहीं चाहती। कार्य-क्षेत्र में मैं ही सबकी सहायता करती हूँ। सब मेरी ही लीला का विस्तार है। आज तुम्हें उसका कुछ अश दिखाऊँगी। अश कहना व्यर्थ है—कण, रेजा, अणु, झलक। तेरे लिये नहीं, इसपर प्रसन्न होकर। तब हाँ देख, तू इसे भूल जा--सदा के लिये भूल जा। इसकी अब तुझे आवश्यकता नहीं है। तेरे आत्म-विकाश में यह अब तेरी सहायिका नहीं हो सकती। इसका ध्यान बना रहने से तेरा पूर्ण विकाश नहीं हो सकता। आगे सबमें इसको और इसमें सबको देखना होगा। सुन, अपनी एक रहस्य की, भेद-भरी, बात तुझे सुनाती हूँ। अब जब आ ही गया, तब कुछ सीख ही कर जा। एक बार इसका अनुरोध स्वीकार कर। मैंने जब तुझे अपने दर्शन का सौभाग्य दिया, अपने दरबार तक पहुँचने दिया, तब तेरा उद्धार करना मेरा कर्तव्य हो गया।

"सुन! कान देकर सुन! जिसे मैं जितना बताना चाहती हूँ

वह उतना ही जानता है। उससे अधिक जानने का किसी में सामर्थ्य नहीं है। किसी की शक्ति के भीतर नहीं है कि मेरा भेद जान सके। ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इनमें भी मैं अपनी शक्ति का सञ्चार कर, इन्हें कार्यक्षेत्र में भेजती हूँ—विविध कार्यों में प्रवृत्त करती हूँ। खेह से रचना, सजना, सजे को खेह करना, मेरे अधीन है। त्रिदेवों की सृष्टि मैंने ही की। अपनी शक्ति इनमें मैंने ही भरी—जिसके बल से ये सृष्टि रचते हैं, पालते हैं और संहार करते हैं। मेरा अन्त किसी को न मिला और न मिल सकता है।

"यह अपार ऐश्वर्य, जिसे तू देख रहा है, और तुच्छ क्षार, जिसे तू निरादर की दृष्टि से देखता है, दोनों मेरे लिये बराबर हैं। दोनों ही मेरी विभूतियाँ हैं। दोनों समान हैं। इसी से मैंने हीरे को कोयले की खान में, मोती को कौड़ी के कोष में, मधु को घृणित मक्षिका के डंक में, रेशम को क्षुद्र कीट के कोये में, अमूल्य रत्नों को कङ्कड़ों के ढेर में—पत्थरों के समूह में—छिपा रक्खा है जिसमें दोनों को सदा साथ देखते रहने से, एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध समझने से, एक की ओर रुचि और दूसरे की ओर अरुचि, एक के प्रति प्रेमासक्ति और दूसरे के प्रति घृणा का संचार न हो। किन्तु इन गूढ़ रहस्यों की ओर कौन दृष्टिपात करता है। इस ओर किसका ध्यान जाता है? इस विषय पर कौन विचार करता है? संसार में, सृष्टि में, ब्रह्माड में, कोई पदार्थ घृणायोग्य नहीं है। लय से

सृष्टि और सृष्टि से लय होता है। एक में दूसरे का बीज है। ससार परिवर्त्तनशील होने पर भी परिवर्त्तित नहीं होता। प्रतिक्षण बदलते रहने पर भी एक-सा चलता रहता है। इतनी पुरानी होने पर भी यह दुनिया नित्य नई ही है।

"आलोक एव छाया—छाया एवं आलोक। प्रचंड आलोक में जो छाया अँधेरी दीखती है, घोर अधकार में वही छाया आलोक-सी दीखती है। तनिक सी दृष्टि इधर से उधर गई कि आकाश-पाताल का अन्तर हो गया। पलक मारने में प्रलय होता है। निश्चय करना कठिन है। एक जिसे दुःख मानता है, दूसरा उसे सुख जानता है। सुख से दु.ख का एव दु.ख से सुख का सृजन तथा विस्तार होता है। अनन्त सृष्टि अनन्त विस्तार क्षण-भगुर होने पर भी, अनादि है। यही मेरी अनन्त लीला का विस्तार है। इसका पार किसने पाया!

"द्वन्द्व मेरा खेल है। अपनी क्रीडा के विस्तार के लिये अच्छा-बुरा, दु ख-सुख, पाप-पुण्य, दिन-रात, श्वेत-कृष्ण, दानव-देव, गरल-सुधा, वैर-प्रीति, विद्या-अविद्या, स्वर्ग-नरक, अनुराग-विराग, जीवन-मरण, विकाश-नाश, गुण-दोष, आलोक-अन्धकार प्रभृति द्वन्द्वों की मैंने रचना की। कहने को ये दो हैं, किन्तु यथार्थ रूप इनका एक ही है। दोनो मेरे दाहिने तथा बाएँ हाथों के खेल हैं। इसी का सूचक अपने एक हाथ में श्वेत एव दूसरे

हाथ में नील कमल मैं धारण करती हूँ। जो उभय को एक जानता है वही मुझे पहचानता है। यही मेरा रहस्य है।

"मेरी रचना की विचित्रता की ओर ध्यान दे, तब तू समझे कि इसका तत्त्व क्या है। मैंने किसी दो को एक-सा नहीं बनाया। खान, वन, समुद्र, पर्वत, कीट, पतंग, पशु पत्ती, नर, नारी, किसी दो की एक-सी रचना मैंने नहीं की। मनुष्य कौन कहे, एक पत्ता एक तृण भी दूसरे से नहीं मिलता। एक दूसरे के समान नहीं है। मैंने सबकी अलग-अलग रचना की। सबके निमित्त एक पृथक सृष्टि की। यही मेरी अपार शक्ति का किंचित् प्रमाण है। प्रत्येक जीव को उचित है कि अपनी आन्तरिक सृष्टि में प्रवेश करे, उसी में स्थिति रक्खे, उसी में निवास करे, उसी में रमण करे। ऐसा ही करने से उसका सम्पूर्ण, समुचित समुज्ज्वल विकाश हो सकता है। ऐसा ही करने से उसे वाह्य-जगत् का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। जो अन्तर-जगत् को छोड़कर वाह्य जगत् में ही लीन रहता है, वह इसकी असारता को अनुभूत नहीं कर सकता। जो चरखी पर चढ़ा है उसे पदार्थों के रूप-रग का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

'बहुत कह दिया। यदि इतने पर भी तुझे चेत न हो, तो तू आत्म-हन्ता है। तेरे साथ किसी की सहानुभूति नहीं हो सकती। जा देख। देख सृष्टि की विचित्रता। अलख को लख। याद रख। अपने स्वरूप को देख। अपने-आपको देख।

"हाँ! हाँ, याद आया। एक बात और है। सौन्दर्योपासना के रहस्यों को न जानता हुआ इस विकट व्रत का तू व्रती हुआ, इसी से तुझे इतने कष्ट उठाने पड़े। जानता नहीं, यह सौन्दर्य भिन्न-भिन्न भावों का उद्दीपक है। इसके हिल्लोल से नाना प्रकार की भाव-लहरी मानव-हृदय-सरोवर में उठती हैं। कोई कामना-लिप्त हो कलुषित हो जाता है, और कोई शुद्धचित्त हो संयम की राह लग आनन्द का उपभोग करता है। छलकते हुए विश्वोल्लासी अपार सौन्दर्य की अनिर्वाच्य छटा को देखा? क्या सभी में समान भावों का उद्रेक होता है? कोमल सुकुमार कुसुमों के रूप, रंग, गन्ध, शोभा, सौन्दर्य, रस, माधुर्य का प्रभाव क्या सबपर एक-सा पड़ता है? त्रयगुणात्मक स्वभाव के अनुकूल विविध प्रकृति वाले इनसे भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावान्वित होते हैं। अर्थलिप्सा से लालायित तामसी प्रकृति का माली इन गुणों पर मुग्ध हो वृन्तच्युत कर पुष्प का विनाश करता है। राजस भाव से भरा परागलोभी भ्रमर माधुर्यमय मकरन्द के लिये, सुहावने सुमनों का, प्रमुदित हो, बारबार मुँह चूमकर ही अपनेको धन्य मानता है। इधर सात्विकी स्वभाववाली मस्तानी बुलबुल आनन्द से पुलकित होती हुई उन्मत्त हो-होकर इनके दर्शनमात्र से ही तृप्त हो अपने जीवन को सार्थक समझती हुई चहकती रहती है। उसके चित्त में और कोई चाह नहीं रहती। इसी से प्रथम दो के अंग काँटों से विद्ध हो छिन्न-विच्छिन्न होते हैं।

"इसी प्रकार अनन्त रूप-राशि की झलक पा सबकी आँखें तिलमिला जाती हैं। किन्तु सबके मन में एक-से भाव उत्पन्न नहीं होते। तामस भाव के वशीभूत हो वासना-वारि में डूबे विलासी मदनान्ध होकर व्याकुल हो जाते हैं। उनके कलेजे मनोजताप से दग्ध होने लगते हैं। राजस प्रकृति वाले आनन्द के उच्छ्वास से विह्वल होकर प्रफुल्लित हो जाते हैं। सात्विकी उसपर मुग्ध हो कर्त्ता की कला-कीर्त्ति की सराहना करते हुए उस परम प्रभु की अशेष निर्माण-शक्ति का गुणानुवाद गाने लगते हैं—और अन्त में कृत के द्वारा उसके कर्त्ता के समीपवर्त्ती हो जाते हैं।

"इन तीनों के दृष्टिकोण में प्रभेद है। आत्मविकाश की उत्कृष्टता के अनुकूल तीनों की रुचि में विभिन्नता होती है।

"प्रथम श्रेणी के लोगों को स्थूल शरीर छोड़कर किसी अन्य पदार्थ वा तत्त्व का ज्ञान नहीं है। देह के दुःख-सुख के अतिरिक्त उनका और कोई लक्ष्य इस जीवन में नहीं रहता। दूसरी श्रेणीवालों को जीव का ज्ञान है। अतएव उनकी चित्त-रञ्जिनी वृत्तियों में मर्मानुभूति की शक्तियाँ सजीव रहती हैं। ये उन्हें मनोराज्य में निवास करने के योग्य बनाये रहती हैं। तीसरी कक्षा के महानुभावों को आत्मा का ज्ञान रहने के कारण उस परम सत्ता की सूक्ष्म रेखा अनन्त सृष्टि के प्रत्येक कण में व्यक्त हुआ करती है। अतएव देह वा जीव की ओर भ्रूक्षेप न कर वे उस अपार सौन्दर्य की किञ्चित् झलक सर्वत्र, सब स्थानों,

सब पदार्थों में सतत पाया करते हैं। और, क्रम से ये विलासी, कामुक, कवि, कलाकार तथा ज्ञानी आत्मदर्शी की संज्ञा से सम्बोधित किये जाते हैं।

"इसी अन्तिम श्रेणी वाले महानुभाव भाग्यशाली, सौन्दर्योपासना के सहारे आत्मोत्सर्गी, विश्व-प्रेमी हो जाते हैं। उनके हृदय में सौन्दर्य-निधि उनके प्रियतम का निवास रहता है। उनकी आँखों की पुतलियों में वही सदा विराजमान रहता है।

"अतएव, विविध रङ्ग रूप आकार-प्रकार में वे अपने प्रियतम ही को पाते हैं। परिणाम यह होता है कि समय पा जब उपासना चूडान्त तक पहुँच जाती है तब इस सौन्दर्य का ऐसा प्रचुर विकाश होता है कि अखिल विश्व को यह अपनी लपट में लपेट लेता है और कुत्सित-कुरूप तथा सुन्दर-सुरूप का भेद मिट जाता है।

"जिस प्रकार अग्निदाह के समय विशाल दुरन्त ज्वाला के धधकने पर समस्त पदार्थ—जो दृष्टिगत होते हैं—आग-ही-आग दीख पड़ते हैं, जिस प्रकार जल के बढ़ने--बाढ़ के आने--पर जल-भिन्न और कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता, सब-के-सब जल-प्लावित हो जाते हैं, उसी प्रकार इस सौन्दर्य-लहरी की बाढ़ नव रसों को हटाकर एक श्रृङ्गार रस को ही छोड़ देती है। अस्तु, प्रेम-व्यतिरिक्त दूसरा लक्ष्य जीवन का नहीं रह जाता।

"अभ्यास, सयम, नियम, अनुशीलन द्वारा जीव नीच पद से उच्च

पद को प्राप्त कर लेता है। पशु से देव-कोटि का होकर तम से सत् का अधिकारी बन जाता है।

"तू बीच ही में ठमक गया। इस परम तत्त्व की ओर ध्यान न होने के कारण तू विचलित हो गया, जिस हेतु मुझे इतना दुःख भोगना पड़ा। अब भी समय है। सावधान होकर चल। बस, बहुत हुआ। जा, जा, देख—विस्मय कर दृश्यों को देख।"

एकादश प्रलाप

रूप की हाट में

अचानक जान पड़ा कि मुझे कोई ऊपर की ओर खींचे लिये जा रहा है। हवा में ऊपर आकाश की ओर मैं निरवलम्ब चढ़ने लगा। कैसे? क्यों कर? किस शक्ति से प्रेरित होकर? किस आकर्षण के सहारे? किस बल पर? मैं समझ न सका!

देवी के कहने पर भी जिस स्थान पर मैं था, वहाँ से न हटता, क्योंकि जो मन-मोहिनी वीणापाणि उनके सामने विराजमान थी, जीते-जी मैं उसके दर्शन से अपनेको वञ्चित नहीं रख सकता था। कम-से-कम यों एकाएक उसे छोड़ना तो मेरे लिये असम्भव ही था। उससे वियोग हो जाने के बाद भी, मैं सदा उसे अपने जीवन का सार ही समझता था। भला उसे पाकर छोड़ देना, और

वह भी किसी एक की बात पर ? अपनी सामर्थ्य-भर तो ऐसा कभी हो ही नहीं सकता था।

किन्तु, यह समझ सकने के पूर्व ही कि क्या हो रहा है, मैं वहाँ से हटा दिया गया। मारे आश्चर्य के मैं अकचका गया—हाथ-पैर फेंकने लगा।

अपनेको सँभालते-न-सँभालते, अपनी देह को मैंने हवा में गगन-पथ से ऊपर की ओर तेजी से जाते हुए पाया। पहले तो मेरा माथा चक्कर खाने लगा। आँखें बन्द हो गईं। कान झन-झनाने लगे। मस्तिष्क में सनसनाहट की आवाज गूँजने लगी। जान पड़ा, सारे शरीर का रुधिर ऊपर की ओर प्रधावित हो रहा है। नसों में रक्त-प्रवाह प्रबल वेग से होने लगा।

किन्तु, कुछ देर के बाद, जब मैं प्रकृतिस्थ हुआ, आँखें फाड़-फाड़कर चारों ओर देखने लगा।

पहले तो घोर अन्धकार के कारण कुछ दीख न पड़ा। पर कुछ अधिक ऊपर जाते-जाते देखा कि चन्द्रदेव एक ओर से निकल रहे हैं। उनकी कौमुदी में स्नान करता हुआ मैं और ऊपर बढ़ा। नक्षत्र सब क्रमशः बड़े होने लगे। उनकी ज्योति से चारों ओर प्रकाश फैलने लगा। देखा कि असख्य देवियाँ, किन्नरियाँ, गन्धर्वबालाएँ, यक्ष-नारियाँ, नाग-कन्याएँ इधर से उधर गगनाङ्गण में विचरण कर रही हैं। उनकी मनोन्मादिनी सुरभि से वायु सुवासित हो रही थी। ऐसी मादक सुगन्ध का अनुभव आज तक कभी नहीं हुआ था।

एक ओर उलूक-वाहिनी कमला अपने सम्पत्ति-पूर्ण कलश से पृथ्वी पर सम्पत्ति-सलिल ढाल रही थीं। समझा, इसी कारण जिसपर इनकी विशेष कृपा होती है, वह इनके वाहन की कक्षा में आ जाता है।

दूसरी ओर नीर-क्षीर के विचार करनेवाले श्वेत हंस पर आरूढ, वीणा के मधुर-मञ्जु तारों पर झंकार देती हुई, अपने-आप-में मस्त, मा सरस्वती इधर-उधर घूम रही थीं। कहीं पारिजात-प्रसून की माला धारण किये अप्सराएँ एक दूसरी के साथ क्रीड़ा कर रही थीं। कहीं ऊषा का कनक-किरीट धारण किये कोई देव-बाला किसी दूसरी सहचरी को खोज रही थी। कोई एक तारा से कूदकर दूसरे तारा पर जा रही थी। एक का वस्त्राभरण दूसरे से चमक-दमक और रूप-रग में बढ़कर। कहीं से वाद्य की ध्वनि आती थी, कहीं से गाने की तरङ्ग उठ रही थी।

क्या कहूँ, जान पड़ता था, मानों यहाँ सौन्दर्य-सागर स्वच्छन्द लहरा रहा हो। एक-से-एक बढ़ी-चढ़ी। माधुर्य, लावण्य, रग, रूप, गठन, अङ्गों की सुघराई, सुथराई, निकाई, विमलता, उज्ज्वलता, कोमलता, सुकुमारता, स्वच्छता का वर्णन होना मेरे साध्य के बाहर है। आँखों में तिरमिरी छा रही थी। रूप की इस हाट में आकर मैं हतबुद्धि हो गया। किसे देखूँ, किसे न देखूँ। एक से दूसरी अधिक रूपवती, अधिक सुन्दरी। एक-से-एक बढ़ी-चढी। आँखें जहाँ जातीं वहाँ से हटतीं नहीं।

मैं विचलित हो गया। आजतक मैंने कभी ऐसा दृश्य न देखा था। अभीतक मैं जिस खयाल में था वह हवा हो गया। जहाँ मन टिका हुआ था, वहाँ से हटा। सौन्दर्य की खोज में मैं जो फिरता था, उसे एक स्थान पर, एक साथ इतना अधिक, इतने विस्तार में, पाकर मैं घबरा गया। मेरा आदर्श हेय हो गया।

देवी के पास से होकर मैं यहाँ आया था। उनकी शोभा, सौन्दर्य, रूप-रङ्ग के सम्बन्ध में तो मैं कुछ कह ही नहीं सकता, क्योंकि उनको देखना न देखना दोनों बराबर था। देखकर भी मैं उन्हें न देख सका, क्योंकि मेरी शक्ति सामर्थ्य के बाहर की यह बात थी। उस ओर आँखें उठाने—नजर बढ़ाने—का साहस मुझमे न था। एक बार चेष्टा करने पर ज्ञात हुआ था कि नेत्रों में बिजली की ज्योति प्रवेश कर गई है। अस्तु, उनकी तुलना तो किसी के साथ कर ही नहीं सकता।

किन्तु वह एक, जिसके रूप के ध्यान में इतने दिनों से मैं लीन था, जिसके सौन्दर्य ने मुझे उन्मत्त बना दिया था, इनको देख लेने के बाद लघु लगने लगी। मैं अपने विचारों में विचलित होने लगा। बालपन से जो मैं सौन्दर्य-सौन्दर्य करता फिरता था, उसकी राशि के भीतर आज मैं मानों भेज दिया गया। यहाँ आकर सृष्टि की अपारता, असीमता, गुरुता की ओर मेरा ध्यान दौड़ने लगा।

इन सबको देख-सुनकर मैं सुखी हुआ अथवा दुःखी,

यह तो नहीं कह सकता, किन्तु इतना जरूर है कि मेरे आश्चर्य की सीमा न रही।

मुझे ज्ञात होने लगा कि जिस प्रकार समुद्र का घोंघा अपने घर ही को सब कुछ समझे बैठा रहता है, उसके बाहर वह सृष्टि को कुछ नहीं मानता, उसी प्रकार मैं उस एक ही को सर्वोत्तम समझे बैठा था। आज उस स्थान से मैं हटा। विवेक ने धक्का मारकर मन को वहाँ से डिगा दिया।

हद से ज्यादा को अजीर्ण कहते हैं, जिसका अर्थ बदहजमी है। बदहजमी से अरुचि उत्पन्न होती है। जो वस्तु आनन्द देती है, उसी की अधिकता दुःख की जननी हो जाती है।

मैं चञ्चल, डवाँडोल, व्याकुल, बेचैन, विपन्न हो गया। राह मिलती, उपाय सूझता, तो मैं इस जगह से भाग जाता। पृथ्वी पर रहता तो कहीं लुक-छिप जाता। भला इस अखड आकाश में छिपने का स्थान कहाँ था! और, कहीं हो भी तो मुझे उसकी खबर क्या थी?

सौन्दर्य की आँच सहने की अब मुझमें शक्ति न रही। मेरी मनोवृत्तियाँ शिथिल हो गई। बुद्धि विभोर हो गई। परिस्थिति ने परिवर्तित भावों को धारण किया, क्योंकि दृष्टि जिस ओर जाती थी, वहीं की होकर रह जाती थी। कैसे देखूँ? कितना देखूँ! क्या देखूँ—क्या न देखूँ? सौन्दर्य देखने की पिपासा मिट गई। आँखें तड़कने लगीं। मैंने उन्हें बन्द कर लिया।

इसी समय किसी एक देव-कन्या ने आकर अपने कोमल करों से मेरा हाथ पकड़ लिया। मैं चिहुँक उठा।

मुस्कुराकर उसने कहा—"यहाँ क्या आये हो? हम लोगों का रूप, शोभा, सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य देखने? देख लो, दिल खोलकर देख लो, आँखें फाड़-फाड़कर देख लो। फिर ऐसा अवसर हाथ न आवेगा। जो जिस वस्तु को खोजता है वह उसे अवश्य पाता है। किन्तु प्राप्त होने पर वह सुखद होगी वा दुखद, इसे कोई कैसे जान सकता है? जिसके लिये तुम लालायित थे, जिसके लिये तुम सदा तरस रहे थे, उसकी पूर्ण मात्रा तुम्हें दी गई। अब कहो, उसे कैसा भोग रहे हो? जिसके लिये व्याकुल हो रहे थे उसके हस्तगत होने पर आँखें क्यों मीच रहे हो? जिस वस्तु के ग्राहक हो उसकी हाट में आकर भागना क्यों चाहते हो? एक बार आगे बढ़कर पीछे हटना क्या उचित है? अपने लक्ष्य से हटना क्या वाञ्छनीय है?

"मनोराज्य में जो रहना चाहता है वह मनोमय कोष में निवास करता है। सदा के लिये वहीं का होकर रहता है, उसके बाहर नहीं जा सकता। किसी की मनोकामना कभी विफल नहीं जाती। किसी का कोई मनोरथ सूखा नहीं पड़ता। किसी की कोई वासना अतृप्त नहीं रहती। किन्तु उसकी प्राप्ति से क्या उसकी तृप्ति होती है? आकर देखो, जितना चाहो उतना देख सकते हो। सृष्टि में शोभा-सौन्दर्य की कमी नहीं है—देखनेवाले की कमी है; क्योंकि सच्चा देखनेवाला नहीं है जो सब ठौर सब पदार्थों में सौन्दर्य पाता है।

जब 'एक' ही से सब है, और वह 'एक' 'सब' में सम्यक रूप से है, और उसे जब शोभा-धाम कहते हैं, तब सुन्दर एवं कुरूप का झगड़ा कैसा ?

"ऊपर उठो। आत्मा को कौन कहे, अभी तो तुमने जीव के स्वरूप को भी नहीं देखा। स्थूल में फँसे हो, सूक्ष्म का तुम्हें ज्ञान ही कहाँ है। चित्र के पीछे क्यों भटकते फिरते हो, चित्र के मूल का पता लगाओ। छाया को छोड़ो। उस पदार्थ को, जिसकी यह छाया है, ढूँढो। मन भर गया हो तो लौट जावो, नहीं तो मेरे साथ चलकर और देखो। तुम्हें बहुत कुछ दिखा सकती हूँ। भीतर देखना हो तो गुफा में फिर जाओ। बाहर देखना हो तो मेरा सहचर बनो। मूल और छाया में बहुत अन्तर है। जो आगे बढ़ता है वह छाया देखता है, जो पीछे फिरता है वह उसे देखता है जो छाया डाल रहा है।"

मेरी समझ में नहीं आता था कि सब के-सब मेरे आन्तरिक भावों को, मेरे जीवन के गुप्त रहस्यों को, मेरे छिपे भेद को कैसे जानती हैं। मेरा परिचय इन्हें क्यों कर मिला ! सब-की सब कैसे एक ही तान छेड़ रही हैं एक ही राग अलाप रही हैं !

इतने ही में मैं घबरा गया था। आगे कुछ देखने की मेरी इच्छा न हुई।

किन्तु एक प्रश्न मेरे मन में उठा और बिना कुछ सोचे विचारे मैंने पूछ दिया कि कहिये तो, क्या आपलोगों को यहाँ कोई दुःख नहीं होता—कोई काम-धाम करना नहीं पड़ता ?

मेरे प्रश्न को सुनकर वह हँस पड़ी और कहने लगी—"अबोध बच्चों-सा तुमने यह क्या पूछा ? अच्छा, सुनो ! हमलोगों को कोई काम-धन्धा नहीं है, क्योंकि यह कर्म-क्षेत्र नहीं, भोग-क्षेत्र है। पृथ्वी में रहकर जो हमलोगों ने बोया है, उसी को आज काट रही हैं। जब फसल खतम हो जायगी तब फिर कृषि का काम नये सिरे से आरम्भ करना होगा। किन्तु यहाँ नहीं, वहीं जाकर। रही दुःख की बात। नहीं कह सकती कि यहाँ दुःख है ही नहीं। देखो, यहाँ हो चाहे वहाँ, जो प्रकृति की सृष्टि में निवास कर सुखानन्द से अपना जीवन-निर्वाह करता है उसे न यहाँ दुःख है न वहाँ। किन्तु जो अपनी अवस्था से सन्तुष्ट न रहकर सदा दूसरे की ओर देखता रहता है, मन में ईर्ष्या उत्पन्न होने के कारण उसे अवश्य ही दुःख भोगना पड़ता है। यहाँ हो चाहे वहाँ, अधिकांश जीव प्राकृतिक सृष्टि में उसके अनुकूल न रहकर निज की एक काल्पनिक सृष्टि की रचना कर लेते हैं और उसी में निवास करने लगते हैं। इस विश्व की रचना और उनकी अपनी रचना में बहुत अन्तर रहता है। अपनेको इस विश्व का अङ्ग न मानकर वे चाहते हैं कि यह विश्व उनके काल्पनिक विश्व के अनूरूप चले। किन्तु ऐसा कहाँ होता है ? उनके लिये सृष्टि निर्मित नहीं हुई है, वरन् वे ही अनन्त विश्व के विस्तार में योग देने के लिये बनाये गये हैं।

"जो पैर को ऊपर करके चलेगा उसे कष्ट अवश्य होगा। जो हवा के प्रतिकूल चलता है वह श्रान्त अवश्य होता है। इस विश्व ब्रह्माण्ड में उपभोग के योग्य अनन्त पदार्थ हैं। किन्तु उन्हें छोड़कर जो अपनी

ही दुनिया के भीतर रहता है वह दुःख-सन्ताप का खिलौना बना रहता ही है। मिथ्या काल्पनिक भाव-अभाव, आशा-निराशा, सफलता-विफलता, लाभ-हानि की रचना, वासना द्वारा, मन किया करता है। किसी सच्चे काम में न लगे रहने के कारण मन ऐसा किया करता है। तुम्हारी पृथ्वी की सभ्यता, समाज एवं लोक-लाज ही इस अनिष्ट का मूल कारण है। काल्पनिक को छोड़कर यथार्थ में प्रवेश कर जाने पर ही यह सब बखेड़ा मिट जाता है। क्यों? क्या राय है? आगे चलते हो?"

द्वादश प्रलाप

धधकती चिता पर

सुनते-सुनते मैं क्लान्त, हताश, आकुल, कुंठित हो गया। मेरी आँखें फिर बन्द होने लगीं। मुझे झकझोरकर देव-कन्या ने कहा—"आगा-पीछा करने का समय नहीं है, विचार को पक्का करो, मन को दृढ़ करो, सकल्प को निश्चयात्मक करने में विलम्ब न हो, तर्क-वितर्क के आवर्त्त में न पड़ो। जो करना है, इसी मुहूर्त्त में कर डालो; नहीं तो अवसर बीत जाने पर हाथ मलते रह जाओगे।

"आप !.................."

मैं अपने मनोगत भावों को कहना ही चाहता था, इस अलौकिक अमर-कन्या से कुछ और पूछना ही चाहता था, कि मुझे ऐसा जान पड़ा मानों प्रचंड वेग से बवंडर-जैसा कोई मेरे पीछे दौड़ता आ रहा है।

फिरकर देखा। देखते ही पहचान लिया। मेरा चिरपरिचित, चिर-वैरी, जान का गाहक—जिसके कुव्यवहार एव कुत्सित आचरण से मेरी प्रेयसी मेरे हाथ न आ सकी थी, जिसके कारण मेरा सर्वनाश हुआ था, जिसके मारे हर प्रकार मैं मारा गया था, जिसके किये हर ओर मेरे लिये अन्धकार छा रहा है—आ रहा है। इसके पहले ही कि मैं देव-कन्या से अपनी रक्षा के लिये अनुनय-विनय करूँ, उसने मुझे धक्का दे दिया। मैं अपनेको सँभाल न सका। वायु-मंडल में चक्कर मारता, लुढकता, अधोमुख, नीचे की ओर मैं गिरने लगा।

जिस शक्ति के द्वारा मैं ऊपर उठाया गया था, अब मेरे पास वह नहीं थी। पृथ्वी की आकर्षणशक्ति से मैं नीचे खिंचा आ रहा था। कितनी देर तक मैं नीचे गिरता रहा, नहीं कह सकता। अन्त में मैंने अपनेको भूमंडल के निकट पाया। कुछ और नीचे आ जाने पर मैंने देखा कि कलकल नाद करती हुई एक नदी प्रवल वेग से बह रही है। समझा, वरन् पूर्ण विश्वास हो गया, कि अब मेरी रक्षा संभव नहीं है—बचने का कोई उपाय नहीं है—आज जल-मग्न होकर मैं मरूँगा—मेरी अकाल मृत्यु होगी; आखिर उसी के हाथ मेरी जान गई जिसे बहुत दिनों से मैंने अपना घातक समझ रखा था।

कुछ और नीचे आने पर देखा कि तट पर एक पीपल के विशाल वृक्ष के नीचे चिता 'धू-धू' करती हुई धधक रही है। ज्योत्स्नामयी रात्रि थी। घाट पर कहीं कोई न था। देखते-देखते मैं चिता पर जा गिरा। लाख चेष्टा करने पर भी मैं अपनेको रोक न सका।

मेरे गिरने से चिता बिखरी नहीं, ज्यों की त्यों रह गई; वरन् अधिक प्रज्वलित हो उठी। मेरा शरीर क्रमशः जलने लगा। किन्तु इसका ताप मुझे अनुभव नहीं हुआ। अपने उस शरीर के बाहर चिता के पास खड़ा-खड़ा अपनी अन्त्येष्टि क्रिया देखता हुआ मैंने अपनेको पाया।

यहाँ पावस का प्रचंड साम्राज्य देखकर मैं चकित हो गया। कहाँ अन्तरीक्ष की उज्ज्वलतम ज्योत्स्ना और कहाँ यहाँ का घनघोर घनाच्छादित गगन। नाना रंग तथा रूप की घटाएँ, प्रबल पवन के संचार से, इधर-उधर दौड़ रही थीं। मन्द-मन्द गर्जन सुन पड़ता था। रह-रहकर चञ्चल चपला चमक उठती थी। वर्षा का गँदला जल लिये—चकोह, भँवर, प्रचंड तरङ्गों तथा फेन को अपने वक्षस्थल पर धारण किये—उमड़ी हुई नदी प्रबल वेग से परिधावित हो रही थी। दादुर का दरदर रव तथा झींगुर की झंकार चारों ओर से सुन पड़ती थी। पीपल के पेड़ से उलूक अपने कर्कश रव को सुना रहा था। फूही पड़ रही थी। पर उसका असर चिता पर नहीं था। वह धधकती रही और मैं उसपर जलता रहा। पवन के प्रसंग से रह-रहकर पीपल के पत्ते झरझरा उठते थे और टप-टप पानी की बूँदें उनसे गिरने लगती थीं। अपनी चिता के पास खड़ा मैं यह सब देख-सुन रहा था।

मेरी चिन्ता का ठिकाना न था। अकस्मात् मुझे उस दिन की बात याद आ गई जिस दिन मैंने अपनी पत्नी को चिता पर, सरयू-किनारे दग्ध किया था। यह वर्षों की बात है।

अब देखने, सुनने, सोचने, विचारने की बात ही क्या रही? अब

मेरी उद्बोधिनी शक्ति ने मेरा साथ छोड दिया। मैं हत-बुद्धि, विचार-रहित, विवेक-हीन हो गया। अपनी आँखों के सामने आप चिताशायी हो भस्मीभूत होना। वाह! वाह! क्या कभी यह घटना धी-गम्य हो सकती है? इसपर कौन विश्वास करेगा! क्योंकर सच मानेगा!

किन्तु इसकी मुझे चिन्ता ही क्या है! मेरी किस बात पर कौन विश्वास करेगा! कोई सच माने चाहे झूठ, विश्वास करे चाहे न करे, पर मुझे कहना है, मैं कहता हूँ।

देखते-देखते मेरी इन आँखों के सामने मेरा चर्म, मास, अस्थि, मज्जा, धमनी, एक-एक कर सब, जल-भुनकर राख हो गया। पञ्चभूत देह पञ्चभूत को प्राप्त हो गई। मेरी पार्थिव स्थिति की इतिश्री हो गई। चिता की लहर बुझ चली, किन्तु चिन्तानल अधिक भड़क उठा। चिता की लकड़ी जल चुकी थी, कोयला लहक रहा था। इसका भी अधिक अश राख हो चुका था। जो शेष था उससे कभी-कभी चिनगारी चिटक उठती थी।

अब क्या होगा! मैं तो मर-मिट चुका, जल भुनकर खाक हो गया। अब मैं किस लोक का रहा। सुना करता था कि मरते समय बड़ी यंत्रणा भोगनी पडती है। किन्तु मुझे तो कुछ मालूम नहीं हुआ। मरने पर लोग दूसरे लोक में जाते हैं। मैं तो यहीं का यहीं रह गया। जो मैं मरा तो यह जीता-जागता खड़ा कौन है! जो मैं जला तो यह सोचता कौन है! मैं क्या एक नहीं, दो हूँ! रहस्य क्या है! भेद क्या है! इसमें बात क्या है? लाख माथा खपाने पर भी किसी बात का ओर-छोर मुझे न मिला।

कैसा विस्मयकर रोमाञ्चकारी दृश्य ! घोर गम्भीर रजनी ; सुनसान मसान ! झरझर शब्द करती हुई विटप की विशाल शाखाएँ ! कलकल-नादिनी, निकट-वाहिनी सरिता ! बुझती हुई मेरी चिता ; मेरे मृतक शरीर का भस्मावशेष ! इन सबका देखनेवाला मैं स्वयं श्मशान-भूमि मे खड़ा। बात क्या है ? मैं मरघट का भूत ही होकर अब रहूँगा क्या ? मुझे क्या अब पिशाच-योनि प्राप्त हुई ?

जितना देखा और सुना, उनके सहने की अब मुझमें सामर्थ्य न रह गई। मैं आपे से बाहर हो गया, ज्ञानशून्य हो गया। कुछ समझ में नहीं आता था, क्या करूँ ? कुछ सूझता नहीं था, कहाँ जाऊँ ? कहीं कोई दीख नहीं पड़ता था, जिससे अपनी व्याकुलता की बातें कहूँ, जो मुझे कुछ ढाढ़स दे।

मेरी संज्ञा लुप्तप्राय होने लगी। दिमाग चक्कर खाने लगा। पैर थरथराने लगे। आँखें बन्द होने लगीं। तलमलाकर मैं गिर ही रहा था कि किसी ने मुझे पीछे से पकड़ लिया।

मै चिहुँक पड़ा। सहारा पा सँभल गया। पीछे फिरकर देखा तो उसी देवकन्या को अपने पास पाया।

मेरी उद्विग्नता बहुत कुछ कम हुई। किन्तु आश्चर्य की मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई।

मुझे परीशान देखकर देव-कन्या ने मुस्कुराकर कहा—

"अब क्या सोच रहे हो ? किस चिन्ता में पड़े हो ? अरे !

"मौत यह तेरी नहीं, तेरी कजा की मौत है।

डर नहीं इससे कि फिर, मरकर नहीं मरना तुझे ॥

"जो नश्वर था, वह नष्ट हो गया। जो परिवर्त्तनशील था उसमें परिवर्त्तन आ गया। जो अमर है, वर्त्तमान है। अभीतक तुम्हारा भ्रम नहीं मिटा। इस धधकती हुई चिता में तुम्हारे स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों ही शरीर भस्मीभूत हो चुके। अब तुम देह नहीं, जीव हो, ब्रह्म हो—नश्वर नहीं, अमर अविनाशी हो—क्षणभंगुर नहीं, अचल हो—आज के नहीं, अनादि-अनन्तकाल के हो।

"तुम्हारी देह चिता पर जल गई। उसके साथ आज तुम्हारे सञ्चित, क्रियमान, प्रारब्ध, कर्म एव कर्मफल दग्धवीज हो गये। इनके साथ तुम्हारे कलुष, मनोमालिन्य, कुसस्कार और भाँति-भाँति के विकारों का भी नाश हो गया। अब तुम्हारी आत्मा समुज्ज्वल निष्कलक हो गई। दैहिक कुवासनाओं के कारण वह मलिन हो रही थी। आज उनसे उसकी रक्षा हुई। सूर्य के ऊपर से बादल हट गया। चन्द्रदेव का पूर्ण ग्रास से मोक्ष हुआ। हीरा से कीच हटी, वह विमल हो गया। यह जीव अब तप्त स्वर्ण-सा दिव्योज्ज्वल हो गया।

"यह देवी के दर्शन का फल है। तुम्हारी जीते-जी मुक्ति हो गई। अब तुम जीवन-मुक्त हो गये। अमर हुए। विकार-रहित हुए। तुममें अलौकिक शक्तियों का सञ्चार हुआ। जाओ, अब ससार में निर्भय निश्चिन्त भ्रमण करो। न मरोगे और न कहीं ठगे जाओगे। मरकर जीना इसी को कहते हैं। तेरी निज की रची हुई सृष्टि आज लय हो गई। सचराचर विराट विश्व का, जो अखिलब्रह्माण्डनायक की रूपराशि है,

अपनेको अज्ञ मानो। यह ज्ञान तुम्हारा अब नष्ट नहीं होगा, सतत बना रहेगा। तुम्हारे अपने प्रपञ्च का नाश हो गया। विधि के प्रपञ्च का ही होकर अब तुम रहोगे। दोनों प्रपञ्चों में यह अन्तर है कि एक गुण-अवगुण-मिश्रित है और दूसरा केवल अवगुण ही से पूर्ण है। एक का लय, दूसरे की उत्पत्ति हुई, जिस कारण अब तुम सुख-दु:ख के केन्द्र से बाहर हो गये।

"अब ससार में स्वतन्त्र, स्वच्छन्द विचरण करो। अब मा की कृपा से माया तुम्हें नहीं सतावेगी। लोकहित-साधन में अपनेको रत करो। अब अपने लिये तुम्हें जीने की आवश्यकता नहीं है। जिसे अपना सुख-दु ख नहीं है वह दूसरे का ही सुख-दु:ख बढ़ाने-घटाने में रहता है। जो दूसरे के लिये जीता है उसी का जीवन वाञ्छनीय है। इस निखिल सृष्टि में अब तुम आज से उसी को देखोगे, उसी को पाओगे। आज से तुम्हें अपने-पराये में भेद-भाव नहीं रहेगा। मानापमान, स्तुति-निन्दा, सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद, हानि-लाभ—अपनी द्वन्द्वता के द्वारा—अब तुममें विकार उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। तुम्हारे दर्शन से आज मैं भी धन्य हुई। तुमको करना है, हमलोगों को अब केवल भोगना है।

"मेरी एक बात मानो। इस जीवन में कुछ कर डालो। ऐसा अवसर सदा हाथ नहीं आता। तुम एक परम पवित्र उत्कृष्ट रम्य मन्दिर का निर्माण करो—ईंट-पत्थर का नहीं, चूना-मिट्टी का नहीं, काठ-लोहे का नहीं, सोना-चाँदी का नहीं, मसजिद-देवालय नहीं, गिरजा-पैगोडा नहीं—नष्ट होनेवाला, गिरनेवाला, टूटनेवाला नहीं; ऐसा, जिस पर हवा-

बयार, गर्मी-सर्दी, पानी-पत्थर, ओला-बिजली, बर्फ, ज्वालामुखी, भूकम्प आदि प्रकृति के प्रकोप का—दुर्घटनाओं का—असर न पड़े। अजर, अमर, मनोहर, विशाल, अति विशाल, वरन् क्षुद्रातिक्षुद्र; किन्तु सरल, सबल, सुलभ, स्वच्छ, उज्ज्वल, अति उज्ज्वल। उसके द्वार को कभी बन्द न रखना। कपाट, वज्रकपाट, उसमें कभी न लगाना। ताला-कुञ्जी या सिकड़ी-बेड़ा का बखेड़ा नहीं। जो जब चाहे उसमें प्रवेश कर सके। किसी के आनेजाने की रुकावट नहीं। तब देखोगे, स्पष्ट प्रत्यक्ष देखोगे कि सत्य, सन्तोष, शान्ति, प्रेम, न्याय स्वय आकर उसमें निवास करेंगे।

"किन्तु पहला काम यह है कि ससार के प्रति अपने हृदय से द्वेष निकाल दो। समझो कि तुम्हारे शरीर के साथ वह भी चिताशायी हो गया, भस्मीभूत हो गया। तत्पश्चात् निश्छल भाव, स्वच्छ हृदय से सात्विक सत्य प्रेम का आवाहन करो। किन्तु इसकी वेदी पर प्राण ही नहीं, वरन् सर्वस्व की वलि देनी होगी। अपना कहकर कोई वस्तु पास न रखनी होगी। तन, मन, धन, प्राण, सबकी ममता छोड़नी पड़ेगी। ऐसा करने पर तुम देखोगे कि प्रेम स्वयं तुम्हें अपनाने, तुम्हारा स्वागत करने के लिये हाथ बढ़ाये अग्रसर हो रहा है। तब देखोगे कि संसार प्रेममय है। यह विश्वप्रेम ही का रूप है। इसका यथार्थ रूप प्रेम ही है। पर याद रहे, प्रेम का सौदा बड़ा कड़ा, बहुत महँगा है। शीश दे तो इसे ले। क्यों? क्या सोच रहे हो? कादर क्यों होते हो?

"नहीं! नहीं! दुःख के भय से भीत न होना। उसका रूप भयङ्कर

है सही, पर है वह बड़े काम का। हमलोग इसे अनुभूत नहीं करते। देखो, सुन्दर शरीर के लिये जैसा सुख-भोग-विलास है, सुन्दर आत्मा के लिये वैसा ही दुःख-शोक-सन्ताप है। प्रेम से दु.ख और दुःख ही से प्रेम है। पञ्चतत्त्व से जैसे प्रकृति शरीर की सृष्टि करती है, वैसे ही दुःख का सार-भाग लेकर प्रेम देहाभिमान का ह्रास, आत्मा का विकास, आत्मबल की तुष्टि एव पुष्टि करता है। जान लो, जीवन का गुप्त रहस्य दुःख ही है। जीवन का सार विपत्ति ही है।"

त्रयोदश प्रलाप

मधुर फल

एक भीम गर्जन हुआ। मैं चौंक पड़ा। निद्रा भङ्ग हुई। आँखें खुलीं। अकचकाकर मैं चारों ओर देखने लगा। समझ में न आया कि यह शब्द क्योंकर और कहाँ से हुआ? महापुरुष पूर्ववत् सोये वा पड़े थे। तब किसके हुंकार की यह प्रतिध्वनि थी? मेघ के घोर गम्भीर नाद-सी यह किसकी आवाज थी? कहीं सिंह की दहाड़ तो नहीं थी। निद्रा देवी के आवेग में, स्वप्न की तरङ्ग में, मुझे कहीं भ्रम तो नहीं हुआ।

देखने से ज्ञात हुआ कि गुफा की अवस्था में कहीं कोई अन्तर नहीं है। हाँ, इतना जरूर था कि धूनी के चारों ओर परिष्कार किया हुआ था। वहाँ से राख हटा दी गई थी। धूनी में लकड़ी का एक दूसरा कुन्दा लगा हुआ था। जब महापुरुष ज्यों के त्यों चित लेटे हैं तब यह किसने

किया ? क्या यहाँ कोई दूसरा भी है ? तब हो सकता है कि उसी की पुकार पर मैं जगा।

मेरी इस समय विचित्र दशा थी। स्वप्न के दृश्य अभीतक मेरे चक्षु के सामने नाच रहे थे। इस हुँकार की ध्वनि मेरे कानों में अभीतक गूँज रही थी। जो कुछ स्वप्नावस्था में देखा-सुना था उनकी जीती-जागती स्मृति अभीतक जाग रही थी, स्पष्ट थी। उनकी एक बात भी विस्मरण नहीं हुई थी। स्वप्न होने पर भी ज्ञात होता था कि उन्हें मैंने जाग्रतावस्था में ही देखा है, सुना है और अनुभव किया है। उनकी सजीवता का स्मरण कर उन्हें स्वप्न समझना, छाया मानना, भ्रमभ्रान्ति जानना असम्भव था।

सोचने लगा कि क्या यह भी उसी सिलसिले में है ? क्या उसी स्वप्न-शृंखला की यह भी एक कड़ी है ?

किन्तु इसका उत्तर मुझे तुरत ही मिल गया। महापुरुष कुछ बोले; किन्तु अपने स्थान से डोले नहीं। उनके शरीर में किसी प्रकार का सञ्चालन नहीं हुआ। उनकी वाणी स्पष्ट, गम्भीर एव तीव्र थी। परन्तु मैं उसे समझ न सका, उसका कोई उत्तर दे न सका।

मुझे चुप देख उन्होंने फिर कुछ कहा। इस बार भी मैं उनके भाव को जान न सका। पर उठकर उनके पास मैंने उनके चरणों का स्पर्श किया। वे उठ बैठे। उनके नेत्रों की पपनियाँ बहुत लटक आई थीं। वरुनी बढ़ी हुई थी। इससे वे मुझे देख न सके। देखा कि अपनी अँगुलियों से आप अपनी पपनी उठा रहे हैं। आश्चर्य की सीमा न रही।

आवरण हटते ही उनकी आँखों से ज्योति की चिनगारियाँ छिटकने लगीं। उनमें कुछ ऐसा टोना भरा था कि मैं उसका तेज सह न सका और न वहाँ से हट ही सका। चिल्ला उठा। रोने लगा। यह सब अब मेरी सहन-शक्ति के बाहर हो गया। उन्हें दया आई। मेरे हाथों को अपने हाथ में लेकर वे कुछ कहने लगे। उनकी भाषा में मैं नहीं लिखता। उनके साथ कुछ दिन रहने के बाद मै उनकी बोली का आशय समझने लगा। उसी के अनुसार उनके कथन के तात्पर्य को मैं अपनी भाषा में लिपिबद्ध कर रहा हूँ।

महापुरुष—"यहाँ आकर भी स्वप्न देखना नहीं छूटता। निद्रा के वशीभूत कबतक रहेगा। इस पवित्र तपस्थली, इस अनादि-पुनीत सिद्ध पीठ पर बैठकर भी तू ईर्ष्या तथा द्वेष की चिता अपने अन्त करण में प्रज्वलित कर रहा है, असन्तोष का मसान जगा रहा है, चिन्ताग्नि से अपना हृदय दग्ध कर रहा है। हजारों वर्षों की धधकती हुई इस धूनी की ज्वाला भी तेरे कुसस्कार, कुविचार, कुतर्क, कुवासना को जला न सकी। गये का सोच क्या कर रहा है? मृत्यु से जीवन और जीवन से मृत्यु है। मृत्यु में जीवन और जीवन में मृत्यु को देख। एक को मारकर दूसरे की सृष्टि होती है। एक मरता है तब दूसरा उत्पन्न होता है। जीवन-मरण की समस्या विषम है। मरकर जी। जीते ही जी क्या मर रहा है? जो जीता-जागता है उसे मुर्दा समझे बैठा है। जिसे मारना है उसे जिला रहा है। जड को चेतन और चेतन को जड मानकर चलना क्या बुद्धिमानी है? चञ्चल को अचल कर।

उसे अपना बना। वह तेरा है। तू उसका बनकर न रह। गुलाम को मालिक समझने में क्या सुख है? जिसे पैरों के नीचे कुचलना चाहिये उसे माथे पर क्यों चढ़ाये बैठा है। विपरीत, एकदम विपरीत, तेरा आचार देख रहा हूँ। उलटा चलकर क्या कोई मुकाम तक पहुँच सका है; अपने लक्ष्य को पा सका है? हस्ती की जो अचल, अखड, अगम धारा बह रही है, उसका अनुसरण कर। उस सूत्र को पकड़ने की चेष्टा कर, जिसमें सारी सृष्टि बँधी हुई है।

"कहने की अनेक बातें हैं। समय पाकर कहा जायगा। तुझे क्या मालूम है कि यहाँ पड़ा-पड़ा आज कितने दिनों से तेरी बाट जोह रहा हूँ। देखने से ज्ञात होता है कि तू बहुत थक गया है। परिश्रम भी तो बहुत हुआ। भूख-प्यास भी सता रही है। खा-पीकर अब विश्राम कर, पीछे देखा जायगा।"

मेरे मन में आया कि यहाँ खाने-पीने का प्रबन्ध कहाँ है जो खाया-पिया जाय। भूख-प्यास तो अवश्य सता रही है। थकावट से नस-नस चूर है।

हँसकर महापुरुष ने कहा—"अणिमादिक ऋद्धिसिद्धि आज्ञा-पालन के लिये द्वार पर हाथ बाँधे खड़ी हैं। कहने की देर है, होने में देर नहीं। पर उन्हें पूछता ही कौन है? जबतक इनका पीछा किया जाता है तबतक ये दूर भागती हैं। जब इनसे मुँह मोड़ा जाता है तब ये मुँह जोहती हैं। यहाँ किसी बात की कमी नहीं है। किन्तु किसी वस्तु की आवश्यकता ही यहाँ किसे है? चाह से न अभाव है? जब चाह ही नहीं, तब अभाव कहाँ!"

एक ओर दिखाकर उन्होंने उसी राह से बाहर जाने का आदेश किया। जिस ओर से मैंने गुफा में प्रवेश किया था उसके दूसरी ओर एक रास्ता था। इस ओर अभी तक मेरा ध्यान नहीं गया था। इसी राह से मैं बाहर गया। तीन सीढियों के बाद मुझे एक जलाशय मिला। तड़ाग का जल विमल, स्वच्छ, मधुर, स्वादिष्ठ, आरोग्य-वर्धक था। गिरिशृङ्ग से झरझर रव करती हुई एक निर्झरिणी बह रही थी। इसका निर्मल जल एक छोटे-से कुड में गिर रहा था जिससे एक स्रोत नीचे की ओर बह रहा था। तारिका-दल से वेष्टित चन्द्रदेव मध्याकाश में विराजमान थे। हल्का-सा तुषार उन्हें घेरे हुए था। तथापि उनका अस्पष्ट विम्ब जल के वक्षस्थल पर क्रीड़ा कर रहा था। हवा में नमी थी। निशाकाल तथा मन्दालोक होने के कारण उस समय मैं और कुछ देख न सका।

कुड में मज्जन करने से मेरी नसों में, रोम-रोम में, नये जीवन का सञ्चार हुआ। जी हल्का हो गया। थकावट जाती रही। मन बदल गया और गुफा में पुनः प्रवेश कर मैं धूनी के पास बैठ गया।

महापुरुष ने कहा—"आग में कन्द पक रहा है। उसे निकालकर परिष्कृत करो। फिर तोड़कर खा लेना। तैयार है। खाने-पीने का जैसा तुम्हारा अभ्यास है वैसा तो यहाँ नहीं मिलेगा। किन्तु क्षुधा बुझाने योग्य पदार्थ मिल जायगा। तुम तृप्त हो जाओगे।

"जो यहाँ है उसे देने में यहाँ के अधिकारियों को कोई हिचक नहीं है। बाहुल्य सम्पत्ति का अधिकारी ही अधिक लोभी होता है। अपने

भोग का दूसरे को वह अंशी बनाना नहीं चाहता। किन्तु जिसके पास अल्प है वह असंकुचित भाव से दूसरे को अपना साझी बनाता है।

"खा-पीकर विश्राम करना। जबतक मैं तुमसे न बोलूँ मुझसे न बोलना। खाने की चीजें इसी धूनी में—जब चाहोगे—मिल जायँगी। जल का स्थान तुमने देख ही लिया।"

इतना कह आप नीरव हो गये। कन्द को धूनी से निकालकर मैंने उसका छिलका उतार दिया और तोड़कर उसे खा लिया। ऐसा स्वादिष्ठ कन्द मैंने आजतक नहीं खाया था। इसका कभी नाम भी नहीं सुना था, देखना तो दूर रहा। मोहनभोग-जैसा मीठा—केवड़ा-जैसा सुगन्धित !

खाते न खाते कलेजे में तरावट आ गई। क्षुधा-पिपासा जाती रही। तृष्णा बुझ गई। जान पड़ा, मुझमें नया बल आ गया। नूतन शक्ति का आविर्भाव होने लगा। एक कन्द से अधिक मैं नहीं खा सका। फिर कुंड पर जाकर मैंने जलपान किया। अब सब प्रकार मैं सुस्थिर हो गया।

मैं समझता था कि यहाँ कोई सरोसामान नहीं है। घबराता था कि यहाँ के निवासी कैसे अपना जीवन-निर्वाह करते हैं? अब देख लिया कि यहाँ हर प्रकार का सुपास है। किसी बात की कमी नहीं है। कोई जरूरत ऐसी नहीं है जिसके दूर करने का प्रबन्ध यहाँ न हो—विना किसी झंझट-बखेड़ा के। कहीं आना-जाना नहीं। किसी

का मुँह जोहना नहीं। किसी के सामने हाथ पसारना नहीं। किसी से सहायता माँगनी नहीं।

मेरे मन में उदित हुआ कि प्रकृति का विचित्र नियम है। जो बेचैन रहना चाहता है उसे वह बेचैन रखती है। जो हाय-हाय करता है, उसे तरसाती रहती है—सताया करती है। जो निश्चिन्त रहना चाहता है, उससे चिन्ता को दूर रखती है। जो अपने बल पर खड़ा रहना चाहता है उसे यथेष्ट बल, पौरुष, पराक्रम प्रदान करती है। जो सन्तुष्ट रहता है, सन्तोष किये बैठा रहता है, उसे किसी बात का अभाव होने नहीं देती। जो अपनी आवश्यकता कम करता है, उसकी आवश्यकता की सदा सहज ही मे पूर्त्ति हुआ करती है। इस कारण, इस गुफा में किसी प्रकार का कष्ट नहीं है।

"बात यह है कि प्रकृति के प्रतिकूल समाज की रचना कर, अपने आडम्बर को बढा, ईर्ष्या—द्वेष-वैमनस्य की अग्नि प्रज्वलित कर, हम लोग अपनेको और दूसरों को बखेड़े में डाले हुए हैं। आप जलते हैं, दूसरों को जलाते हैं। आप मरते हैं, मारे जाते हैं और दूसरों को मारते हैं। आप सदा चक्कर में पड़े रहने के कारण स्वयं बेचैन रहते हैं और दूसरों को चक्कर में डालकर बेचैन रखते हैं। इसमें क्या सुख है? इससे क्या लाभ है? यदि अपने साथ सत्य का व्यवहार रखा जाय तो शान्ति, पूर्ण शान्ति का प्रसार हमलोग अपने चारों ओर कर सकते हैं।

"अपने-आपको देखने, निरीक्षण करने का हमलोग कभी कष्ट

नहीं उठाते ; दूसरे ही की ओर सदा देखा करते हैं ; औरों की ही आलोचना-प्रत्यालोचना, स्तुति निन्दा, अच्छे-बुरे में अपने जीवन के सार-भाग को नष्ट करते हैं। जो अपने-आपमें रहता है वह सबको सुख देता है। यही तो अब मुझे निर्विवाद जान पड़ा कि प्रत्येक मनुष्य अपना कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, नियन्ता, और विधाता आप ही है।"

मै सब अलीक बाते, धूनी के पास एक मृगछाला पर अपने माथे के नीचे लोटा रखकर, पडे-पड़े सोच रहा था। जलाशय से लौट आने पर मैंने मृगचर्म को यहाँ पाया। आश्चर्य हो रहा था कि यहाँ का यह सब काम कौन कर रहा है। यहाँ तो कोई है नहीं और महा-पुरुष अपने स्थान से हिल-डोल नहीं करते।

व्यर्थ की बातें सोचते-सोचते मेरी आँखें झिपने लगीं। थोड़ी देर में मै निश्चिन्त सो गया। श्रमहारिणी, विश्राम-प्रदा, सुखदा, आनन्द-दायिनी, शक्ति-वर्द्धिनी, दयामयी, विस्मृतिकरी निद्रादेवी ने मुझे अपने क्रोड़ में कर लिया। आनन्द-पूर्वक, आराम से, मैं सो गया। अपने-पराये, दीन-दुनिया की सुधि जाती रही। कर्म-जाल से मुक्ति हुई।

पहला स्वप्न था, यह निद्रा थी। वह श्रमप्रद था, यह विश्राम-प्रदा थी। वह कर्म-विपाक था, यह सुषुप्ति थी।

चतुर्दश प्रलाप

धवल धारा में

"जाग ! जाग ! रे जाग !

इते कित सोवत राही ।"

यही आवाज मेरे कानों में पड़ी। नींद टूटी। आँखे खुलीं। क्रमशः स्मृतियों में जागृति आई। मैं कहाँ हूँ, स्मरण हुआ। कितनी देर तक मैं निद्रितावस्था में था, नहीं कह सकता। किन्तु उठने पर मेरा शरीर बहुत हल्का था—चित्त प्रफुल्ल था—मन शान्त था।

तडाग-तट जा, नित्यनेम से निवृत्त हो, मैं गुफा में लौट आया। महापुरुष उसी अवस्था में थे। किन्तु मेरी आहट पा, मुझे सम्बोधित कर, उन्होंने कहा—"अब तू यथेष्ट विश्राम कर चुका। तेरी थकावट भी जाती रही। अब काम की बातें सुन। भूमिका की आवश्यकता नहीं है। पूरा ध्यान इस ओर। जो मैं कहता हूँ उसे सदा स्मरण रखना,

भूलना मत। इसका कोई अंश यदि आज तेरी समझ में न आवे, तो उसके लिये चिन्ता नहीं। समय पाकर इसका पूरा अर्थ तू आपसे आप समझ लेगा। जो बीज मिट्टी में फेंक दिया जाता है वह समय पाकर आपसे आप उगता है ; किसी को कुछ करना नहीं पड़ता।

"हजारों वर्षों के सञ्चित शास्त्रज्ञान, मनन, चिन्तन. अभ्यास, साधना, अनुशीलन, अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान का सार तत्त्व तुझे आज देता हूँ; जिसमें तू इसे धारण कर सके। इतना परिश्रम कर, इतने यत्न से, तू इसके योग्य बनाया गया है। अब तू इसका बोझ सँभाल सकता है। चास कर, खाद दे, कृषि के लिये क्षेत्र तैयार हो चुका है, इसमें आज यह बीज आरोपित किया जाता है। समय पाकर यह अंकुरित पल्लवित, पुष्पित होगा। इसकी शाखा-प्रशाखा की सुखद छाया में कितने क्लान्त जीव विश्राम पावेंगे। इसके सौरभ से कितने दग्धहृदय को शान्ति मिलेगी। इसके सुमधुर फल से कितने जीवों की आध्यात्मिक क्षुधा-पिपासा मिटती रहेगी।

"तू आ गया। समय पर आ गया। तेरे द्वारा मैं अपना सन्देश दूसरों के पास भेजता हूँ। जा, मेरे नाम पर उनको तू अपना बना और आप उनका बन। बहुत सो चुका, अब जाग। आप जाग और दूसरों को जगा। मोहनिद्रा के वशीभूत हो नाना प्रकार का स्वप्न क्या देख रहा है। अब सोने का समय नहीं है। समय बीता जा रहा है। चेत जा। जाग उठ। यदि आज निद्रा-भङ्ग न हुई, तो आजन्म क्या, जन्मान्तर तक सोता ही रह जायगा। जाग उठ। जाग उठ। मेरे हुक्म

से जाग उठ। तुझे मैं जगाता हूँ। ठोकर मारकर जगा रहा हूँ। अपनी शक्ति से, गुरु की भक्ति द्वारा प्राप्त शक्ति से, गुरु की कृपा के सहारे, मुर्दे में जान भर रहा हूँ। करोड़ों वर्षों के मृतक को आज जीवित करता हूँ। 'मैं हूँ! मैं हूँ!' कहता हुआ वह सामने आ खड़ा होता है। भय न करना, देख ले, उसमें कितनी शक्ति है, कितना बल है। गीदड़ों के संग रहते-रहते मृगेन्द्र-कुमार अपनेको गीदड़ समझकर मांद में छिपा पड़ा है। अपनी असली सूरत को उसे पहचानना है। उसके यथार्थ रूप का उसे ज्ञान देता हूँ। देखना, धड़ाके ने सामने आकर, गरजता हुआ, वह सब-का सामना कैसे करता है।

अभी तक नहीं जान सका कि तू क्या है? कहाँ का है? जिन्दा को मुर्दा मानना, उसे काम में लगाने की जगह कब्र में डालना क्या, बुद्धिमत्ता है? देख देख, तेरे देखते-देखते सारी सृष्टि लय हो जायगी। सूर्य जायगा, चन्द्रमा जायगा, तारे जायँगे। टूट-टूटकर एक-एक तारिका नष्ट हो जायगी। पवन, पानी, नरक, स्वर्ग, आकाश, पाताल, किसी का पता नहीं रहेगा। रह जायगा वही, जिसने 'मैं' को खोकर 'मैं' को पाया है—'मैं नहीं हूँ' का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर 'मैं हूँ! मैं हूँ!' के सार-तत्त्व को अनुभव द्वारा पाया है। नेस्ती से हस्ती में आवो। हस्ती को मिटाकर हस्ती को पावो।

"देखो! देखो! स्पष्ट प्रत्यक्ष झलक रहा है। अनेक में एक को देखो। एक में अनेक का अनुभव करो। अङ्क एक है, शून्य अनेक हैं, अनन्त हैं। उस एक को पा, उस एक के निकटवर्त्ती हो, शून्य अर्व-

खर्व-पद्म-संख्य हो रहा है। उस एक के हट जाने से शून्य शून्य ही रह जायगा। शून्य का संग्रह क्या ? शून्य के प्रपञ्च में पड़कर क्या जान दे रहा है। प्रपञ्च को छोड़। शून्य से वियोग, अङ्क से सयोग कर। उसका त्याग, इसका संग्रह, यही सार है। आज एक और अनेक, हम और तुम, मै और वह का झगडा मिटा देता हूँ। बन्धन को खोल देता हूँ। जो नहीं है, वह न रहो। जो है, वह बनो। छाया को छोड़, वस्तु को दृढ़ता-पूर्वक पकड़ो। अकड़ना व्यर्थ है। अकड़ने ही से जकड़ना पड़ता है। मुकरते क्यों हो ? मरने से डरते हो क्या ? विना मरे क्या वह जिन्दगी पा सकते हो, जिसमें मरना न पड़े ? मरकर ही अमर हो सकते हो। यही नियम है। यह एक ही नियम है। यह अटल नियम है। इस सनातन नियम का अपवाद नहीं है।

"आज तेरे लिये और तेरे द्वारा संसार के लिये अव्यक्त को व्यक्त करता हूँ, असीम को सीमावद्ध करता हूँ। अथाह की थाह लो। अतल का तल दिखाता हूँ। अनादि-अनन्त का आदि अन्त देख। अदृश्य को तेरी आँखों के सामने झलका देता हूँ। सागर को गागर में भरकर तेरे सर पर चढ़ा देता हूँ। सुरत ठीक रहे। पनहारी-सा इस गागर पर ध्यान ठीक रहे। मन को दृढ सुस्थिर रखना। विचलित न होना। वर्णनातीत का वर्णन किया। भावों को भाषा का परिधान धारण कराया।

"जानता है, वासनात्मक मधु के पान करने से कसक मुरदार हो गई थी। जीवन खुमार में वेसुध पड़ा था। सुरत की सुरत कौन करे।

कौन इन्हे ठीक राह पर लावे ? दिन फिरा, भाग्य उदय हुआ। सौन्दर्य ने हृदय-वाटिका में प्रेम-बीज आरोपित किया। प्रेम के सहचर विरह का प्रादुर्भाव हुआ। इसने दिल में दर्द, कसक पैदा की। नयन-वारि के अविरल प्रवाह से मन का वासनात्मक मैल बह गया। आत्मा उज्ज्वल हुई। जीव ने जगकर, सुरत को सँभाल, निरत को थिर कर दिया। अब क्या ? पल्ला पार है, क्योंकि

"विरह जगायो दरद को, दरद जगायो जीव।
जीव जगायो सुरत को, पाँच पुकारे पीव॥"

'पुकारने की देर थी। हृदय-द्वार पर तो वह पीव सदा सदा ही रहता है। यही क्यों ? हृदय-कपाट को सदा वह खटखटाया करता है। कपट-कील उसे खुलने नहीं देता। तप्त आँसुओं के ताप से कपट जल जाता है। बस, इस कपाट के खुलने में कोई अँटक नहीं रह जाता। उसके पदार्पण करते ही भीतर और बाहर सब प्रकाशमय हो जाता है। तुम्हारी पुकार को उसने सुना है। जीव के आर्त्त रुदन को वह कारुणिक सह नहीं सकता। उसका आर्द्र चित्त बात-की-बात में द्रवीभूत हो जाता है।

"सुन चुका न, अब देख। देख, प्रेम की धवल धारा सामने बह रही है। इसी में गोता लगाने से जीव अमरत्व को प्राप्त करता है। जिन्दगी में यदि अमर पद को न पा सका तो मरने पर क्या पावेगा। सौन्दर्य की उपासना द्वारा तू इसके तट तक पहुँच सका है। तेरी साधना की सिद्धि आज हुई। तेरी तपस्या आज पूरी हुई। तेरी उस

उपासना की आज इतिश्री है। अब तू स्वय सौन्दर्यमय प्रेममय हो गया। उपास्य, उपासक और उपासना आज तीनों एक हो गये। भक्ति, भक्त एव भगवन्त में अब भेद न रहा। प्रेमी, प्रिया तथा प्रेम में अन्तर न रहा। यह प्रमाद हो सकता है, किन्तु है सत्यातिसत्य।

"जा, इस धवल धारा में सदा के लिये निमग्न हो जा। आज तेरी साधना पूरी हो गई। तू अब साधक न रहा, सिद्ध हो गया। डूबने से न डर। इस धारा मे धँसने से, इस धारा के प्रवाह के साथ बहने से, तू वहाँ पहुँचेगा, उस पद को पावेगा. जहाँ पहुँच जाने, जिस पद पर प्रतिष्ठित होने से ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी तेरा पैर चूमेंगे, तेरे दर्शनमात्र से अपनेको धन्य मानेंगे—कृतार्थ समझेंगे। यह धारा अनादि काल से बह रही है। इसका एक स्रोत भीतर है और एक बाहर। दोनों के संगम से वह प्रबल तरङ्ग उठेगी जिसमें सारी सृष्टि, तीनों लोक, चौदहों भुवन प्लावित हो जायँगे।

"मेरी बातों पर क्या तुझे विश्वास नहीं होता? सुन! इस धारा का इतिहास सुन। सर्वप्रथम इस स्रोत का पता व्रज-गोपियों ने पाया। सबसे पहले उन्हीं लोगों ने इसमें मज्जन किया था। वसनाभूषण, चीराभरण, लोकलज्जा, कुलकानि, सबको तट पर छोड़कर, असंकुचित भाव से, उन बड़भागिनियो ने, दिगम्बरा हो बेधड़क कूदकर, इसमें स्नान किया था। याद है, शीतकाल था। तन-बदन, दिल-कलेजा, थरथर काँप रहे थे। सब लुट गया। सबका अपहरण हो गया। किन्तु परिणाम यह हुआ कि सब एक हो गये। उस एक के साथ सब-

का सयोग हो गया। मधुबन चले जाने पर भी वियोग न हुआ। चिर-वियोग में भी प्रेममयी प्रेममूर्त्ति व्रज-ललनाओं को सयोग ही का सुख अनुभूत होता रहा। इसी से, यही कारण है कि, व्रज-मडल में जहाँ जहाँ उनके सुकोमल पवित्र चरणकमल पड़े, वे सब स्थान, वरन् उनकी एक-एक कणा, एक-एक रेणु पवित्र हो गई। मुक्ति को भी मुक्ति प्रदान करनेवाली शक्ति उसमें आ गई।

"व्रज-रज-कण मस्तक पड़े।
मुक्ति मुक्त हो जाय॥"

"उनकी केलिस्थली निकुञ्ज-वन को शास्त्रकारों ने पग-पग पर प्रयाग का माहात्म्य दिया है।

"जेहि व्रज केलि-निकुञ्ज वन।
पग-पग होत प्रयाग॥"

"नहीं सुना है कि अमरलोक छोड़कर देवतागण उनके दर्शन के लिये सदा आया करते थे, और व्रज के करील को देखकर त्रिदिव का सुख भूल जाते थे। दुर्दमनीय त्रिदेवा के दम्भ को चूर करनेवाली यही व्रजदेवियाँ हुईं। क्यों? इसी धारा में स्नान करने के कारण। चीर-हरण, महारास आदि सबका उद्रेक यहीं से है।

"बस, इसमें प्रवेश किया कि उनके समकक्ष हुआ। तुम्हारे सौभाग्य-रवि का उदय हो चुका। दुर्भाग्य-तम हट गया। यह जन्म, मानव-जीवन, सार्थक हुआ। अनन्त जन्म के अघ-ओघ का नाश हुआ।

"मुँह बाये चाहा-सा चारों ओर क्या देख रहा है? आगा-पीछा करने

का समय नहीं है। अब छुटकारा कहाँ ? भागकर कहाँ जायगा ? सब रास्ते बन्द हैं। ऊपर की ओर देख। यह धारा उलटी बह रही है। ध्यान देकर देख, नीचे से ऊपर की ओर जा रही है। यह अधःगामिनी नहीं उर्ध्व-गामिनी है, उजान-वाहनी है। चढ़ाव की ओर इसकी गति है। सागर से पर्वत की ओर यह जाती है। पाताल से आकाश की ओर प्रधावित होती है। पैर से माथे पर चढ़ती है। सागरोन्मुखी नहीं, पर्वतोन्मुखी है। इसके साथ बहना सहज स्वाभाविक नहीं है। कठिन अस्वाभाविक होने के कारण परिश्रम, अभ्यास, अनुशीलन की आवश्यकता है। हठ की जरूरत है। जो चढ़ सका वह पहुँच गया, मुकाम तक पहुँच गया, उसका पल्ला पार हो गया। जो गिरा वह चकनाचूर हुआ। जो चढ़ा वह अमृत छककर अमर हुआ।

"यह उलटी गंगा है। यहाँ जाति-भेद, वर्ण-भेद, मतभेद, रुचि-भेद, धर्मभेद नहीं है। जीवमात्र को इसमें स्नान करने का गोता लगाने का, अधिकार है। जहाँ से इसका उद्गम है वहीं इसका सगम भी है। जहाँ से निकली है उसी में समाती है। जहाँ से प्रकट होती है उसी में लीन होती है। इसका आदि-अन्त एक ही है। इसके उत्थान और पतन का एक ही स्थान, एक ही केन्द्र है। आनन्द-सिन्धु का यह एक क्षुद्र स्रोत है। उस अनन्त सागर की एक छोटी लहरी, एक साधारण तरङ्ग है। उसी से उठती है, उसी में विलीन होती है। जहाँ से आती है वहीं जाती है। पलक मारते लहराती हुई अपनेमें त्रयलोक को लपेट लेती है। फिर जहाँ की तहीं।

"पथराई हुई आँखों से क्या देख रहे हो ? क्या शानदार हिलोरा है। आज यह उज्ज्वल धवल धारा कैसे मौज में है। एक बार इसमें गोता लगाने से स्नान करने से, करोड़ों जन्म की मलिनता, गन्दगी, दूर हो जायगी। सदा के लिये तू पवित्र हो जायगा। एक बार, एक बार केवल एक बार, साहस कर उतर पड़ो, फिर कभी स्नान करने की आवश्यकता नहीं रह जायगी। मोह, भ्रम, भय, कायरता, सङ्कोच छोड़कर कूद पडो। इसी में मज्जन करने से—"काक होइ पिक बकहु मराला।"

"सुनकर आश्चर्य न करो। मेरी बातों पर ईमान लाओ। श्रद्धापूर्ण विश्वास की जरूरत है। यह कथनी नहीं, करनी है। तुम्हारे शोक का अपहरण करता हूँ। फिर समय नहीं आवेगा। जीवन में एक ही बार यह अवसर हाथ आता है—वह भी सबको नहीं, ऐसे ही किसी बड़भागी को, जिसपर 'उस' की विशेष कृपा होती है। जिसने एक बार इस अवसर को हाथ से जाने दिया. वह करोड़ों जन्म तक हाथ मलता, सिर धुनता, पछताता रह जाता है।"

बोलते-बोलते आवेश में आकर महापुरुष उठ बैठे। उनके आनन की कान्ति उज्ज्वल-तम हो गई। उससे अलौकिक ज्योति छिटकने लगी। मैं आश्चर्य में डूबा हुआ, चुपचाप, दम-साधे, खड़ा था। उनकी बातें मेरी समझ में नहीं आती थीं। हाँ, इतना जरूर था कि जिस ओर उन्होंने इङ्गित किया था, उस ओर दृष्टि डालने पर मैंने देखा कि जिस प्रकार ग्रीष्म-ऋतु के मध्याह्नकाल में कहीं मैदान में खडा होने पर सुदूरवर्ती वायु सूर्य के ताप एव बिम्ब से लपलपाती हुई, फहराती हुई,

लहराती हुई, दीख पड़ती है, उसी प्रकार एक उज्ज्वल, धवल, तरल तरङ्ग की लपट नीचे से ऊपर की ओर लहरा रही थी, मौज मार रही थी। मोती, गले हुए मोतियों का आभास। दामिनी की दमक-सी प्रकाशमय। किन्तु मस्तकर मधुर प्रकाश उसका था। बालरवि के तेज-सी उज्ज्वलता। हीरे की धूल की सरिता के ऊपर मानों शारदीय चन्द्रिका चमक रही हो। आँखें नहीं ठहरती थीं।

देखते-देखते उस अलौकिक ज्योति से सारी गुफा परिपूरित हो गई। इधर गुफा विस्तृत होने लगी। विस्तार इतना हुआ कि गुफा एकदम अदृश्य हो गई। उधर ज्योति की परिधि का विस्तार होने लगा। जान पड़ने लगा कि सब कुछ उसी मे निमग्न हो रहा है। क्रमशः उस धारा का आकार इतना बढ़ा कि वह विश्वव्यापिनी प्रतीत होने लगी। पर्वत, शिखर, विटप, विशाल प्रासाद, पशु-पक्षी, नर-नारी, नदी-नाले, एक-एक कर सबके सब उसमें अन्तर्हित होने लगे। पृथिवी गई। लपट आकाश की ओर चली। नक्षत्र, तारिका-समूह, चन्द्र-सूर्य उस प्रबल धारा मे विलीन होने लगे। अब जिस ओर और जहाँ तक दृष्टि जाती थी, बस वहीं एक धवल धारा नजर आती थी। ज्ञात हुआ, अचानक अगाध धवल सिन्धु उमड़ आया जिसमें तीनो लोक एक साथ डूब गये। अब जहाँ देखता हूँ उसी को पाता हूँ।

मेरी व्याकुलता तथा आश्चर्य की सीमा न रही। अब जहाँ नजर जाती है, वहीं एक धारा, महापुरुष और मै। दशो दिशाएँ, एक अखड ज्योति से परिपूर्ण हो गईं। भान होने लगा कि इस अखिल विश्व-ब्रह्मांड

में इस एक ज्योतिर्मय धारा के व्यतिरिक्त कुछ नहीं है। पहले नीचे से ऊपर की ओर यह जा रही थी। अब इसका अनुमान जाता रहा कि इसकी गति किधर से किधर है। हर ओर जब वही रह गई तब गति का ज्ञान कैसे हो सकता था।

मुझे व्यग्र देखकर महापुरुष ने कड़क कर कहा कि कह! अब विलम्ब क्यों? और, साथ-ही-साथ, आप उठ खड़े हुए। उनके सामने मैं बालक-सा दीखने लगा। मेरे शीश पर उन्होंने हाथ रखा। मेरे नेत्र बन्द हो गये। जान पड़ा, मैं उस ज्योतिर्मय प्रवाह में डाल दिया गया। ऊपर-नीचे होता, डूबता-उतराता, मैं उस धारा में स्वच्छन्द बहने लगा। कहाँ जाता था, कैसे जाता था, क्या होता था, किसी बात का ज्ञान न रहा। जिस प्रकार महासागर में कोई एक जल-जन्तु ऊपर-नीचे आया-जाया करता है—कुछ अपने किये, कुछ जल के वेग से, किन्तु उसे इसका ज्ञान कहाँ कि जल का विस्तार कितना है, उसी प्रकार मुझे भी इसका कुछ अनुभव-अनुमान न हुआ। चकित हुआ मैं विस्मृति का—विस्मयकरी परमोज्ज्वला तरल तरङ्ग में प्रत्यक्षानुभूत पूर्णानन्द का—अनुभव करता हुआ, उसमें प्रवाहित होने लगा। अब केवल वह उज्ज्वल धारा और उसमें मैं रह गया। और कहीं कुछ नहीं। अब महापुरुष भी मुझे दृष्टिगोचर नहीं होते थे। वह भी उसी में लीन हो गये।

उस समय की मेरी दशा का—मेरे अनुभव का वर्णन नहीं किया जा सकता। गोचर के बाहर होने के कारण वे वचन के बाहर हैं। अलौकिक, नैसर्गिक, अभूतपूर्व, अपार, अगम, अनिर्वचनीय—कैसे क्या

कहूँ ? कैसे दूसरे को समझाऊँ ? जिसे आप समझ न सका, उसे दूसरे को क्या समझाऊँ—क्यों कर समझाऊँ ?

अपनी देह का, जीव का, मन-बुद्धि-चित्त का, इन्द्रियों का ज्ञान जाता रहा। कौन हूँ, कहाँ हूँ, कहाँ का हूँ, सब भूल गया। किसी वस्तु की, किसी बात की, किसी अनुभव की स्मृति न रही। मन की वृत्तियों का एकदम निरोध हो गया। केवल आनन्द, परानन्द, परमानन्द, अखण्डानन्द मैं अनुभव करने लगा। मेरे हृदय-सरोवर में केवल आनन्द-लहरी लहराने लगी। किन्तु केवल आनन्द कहने से क्या उस दशा—उस अवस्था का अनुमान कभी किसी को हो सकता है ! उस उज्ज्वल-तम धवल धारा में, उस आनन्द-कल्लोल में, एक चैतन्यता थी।

उस समय मैं अपने भीतर सम्पूर्ण विश्व को देखने लगा, वरन् स्वयं सारे विश्व में प्रवेश कर गया। इस सम-विषम-भाव-शून्य अन्तः-करण में आसत्रास का निवास ही नहीं रहा। पूर्णता का विकाश तथा विश्वाभास का नाश पलक मारते हो गया। स्वार्थ-परमार्थ अनन्त होकर अनन्त में विलीन हो गये। जीव-शिव का यह विश्वव्यापी आनन्दमय अखण्ड मिलन था। विभिन्नता मिट गई। अन्वय तथा व्यतिरेक एक हो गये। मन निर्विकल्प हो गया।

कुछ देर के लिये पुनः उस आनन्द का स्मृति द्वारा अनुभव करने के लिये मैं नीरव होता हूँ। जो कहने योग्य नहीं है, जो कहा जा नहीं सकता, उसके कहने की चेष्टा करना, उसके लिये समय नष्ट करना बाहुल्य मात्र है।

इस अवस्था में मैं कितनी देर तक था, नहीं कह सकता। किन्तु मैंने सुना—यदि इसे सुनना कह सकते हों—कि "यह आनन्दमय जीवन का अभी सुप्रभात है। अखिल-आनन्द-रवि की यह ऊषा, अरुणोदय मात्र है। आनन्दपूर्ण अनन्त जीवन का दिवारम्भ है। अमरत्व-पद का प्रथम सोपान है। अपार स्थिति-रूपी विशाल विटप की प्रथम कलिका, पहली डीभी—अँकुरी—है। सुखमय जीवन-अभिनय की प्रस्तावना है। सर्वाङ्गपूर्ण महानाटक का प्रथम दृश्य भी अभी आरम्भ नहीं हुआ। यवनिका अभी गिरी हुई है, पट पड़ा हुआ है। नख-शिख-पुष्पित-पल्लवित आनन्द-लतिका का अभी बीज ही देखते हो। उस अतल अपार अथाह पयोनिधि का यह एक सीकर मात्र है। उस अपरिमित वालुका-राशि की एक कण। असख्य तारिका-दल का एक क्षुद्र सन्ध्या-तारा। कल्पवृक्ष की एक च्युत कलिका। आनन्दमय अनन्त जीवन का प्रथम निमेष। आनन्द-कानन के अपार पराग का एक साधारण रेणु-अणु।

"कैसे बताऊँ! अनुमान के भीतर की बात नहीं है। अन्दाज नहीं किया जा सकता। असीम है। अनन्त है। पता नहीं चल सकता। कहा नहीं जा सकता। धैर्य धारण करो, कुछ दिन और ठहरो, कुछ-कुछ आप ही जान लोगे। इस समय बस इतना ही। सँभालो। अपनेको सँभालो। अब इसे इस समय हटाता हूँ। इस विस्तार को समेटता हूँ। आज तुम्हारे सुकृत सब सुफल हुए।

पञ्चदश प्रलाप

सिद्ध की कुटी में

उस अगम धारा की उज्ज्वल तरङ्गों मे मैं कितने समय तक निमग्न होता रहा, इसका अनुमान मैं नहीं कर सकता। अन्त में जब मुझे पूर्ण सज्ञा प्राप्त हुई तब मैंने अपनेको उसी गुफा में बैठा हुआ पाया। महापुरुष पूर्ववत् लेटे हुए थे। अपनेको अब मै सँभाल न सका। उनके चरणों पर गिर गया और व्याकुल हो कहने लगा कि दया करके आप-ने मुझे वहीं क्यों नहीं छोड़ दिया—वहाँ से क्यों हटा दिया, बड़ा सुखी था, बड़ा निश्चिन्त था, ब्रह्मानन्द-उपभोग कर रहा था, बड़े मजे में था, मस्त था।

महापुरुष ने मुस्कुराकर कहा—"कुछ चिन्ता नहीं। अब वह तेरा है। जब चाहेगा, वहाँ पहुँच जायगा, उस अवस्था को प्राप्त हो जायगा। जब इच्छा होगी, उस पद पर उपविष्ट हो जायगा। रास्ता देख लिया,

मुकाम पहचान लिया, जाने आने में अब कष्ट नहीं होगा। कोई अड़चन नहीं पड़ेगी। एक बार जो वहाँ पहुँचा सो पहुँच गया। किन्तु तेरे द्वारा मुझे संसार का अभी बहुत-कुछ उपकार करना है, दूसरों का काम बनाना है, इसी से वहाँ से हटा लिया। अब जाओ। अपने देश में जाकर मेरे आदेश का पालन करो।'

जाने का नाम सुन मैं सहम गया—घबरा उठा, और कहने लगा—"ऐसा न कहें। इन चरणों को छोडकर अब मैं क्या कहीं जा सकता हूँ। इन्हें छोड अब मेरी दूसरी गति नहीं है। बाहरी दुनिया में मेरा क्या है? संसार से अब मुझे क्या प्रयोजन है? उसे मैं काफी देख चुका हूँ। उसका मजा पूरा लूट चुका हूँ। उससे ऊबकर यहाँ आया हूँ। कैसे आया, क्योंकर आया, कौन ले आया, नहीं कह सकता। किन्तु आया खूब ही। आकर आपके सन्दर्शन से कृतार्थ हो गया। जन्म सार्थक हुआ। जीवन सफल हुआ। कोई वासना, कोई लालसा, कोई कांक्षा अब शेष न रही। जाने-आने की बात अब न उठाई जाय। उस बखेड़े में मुझे अब न डाला जाय। जिससे छुटकारा पाया, उसमें फिर न फँसाया जाय।

महापुरुष—"बात तो ठीक है। किन्तु जिसके द्वारा जो काम लेना है उसी के द्वारा वह काम कराया जायगा, दूसरे से नहीं। इसके उपयुक्त पात्र तुम्हीं हो। कितने यत्न से तुम इसके योग्य बनाये गये हो। वह बोलता जो तुममें बोल रहा है उसे इस योग्य होने में कितनी देर लगी है, कितने जन्म बीते हैं, इसकी अटकल तुम नहीं कर सकते। तुम्हारा

बन्धन टूट गया। अटक हट गई। तुम्हारा व्यक्तित्व शेष हो गया। तुम जीवनमुक्त हो गये।"

मैं—"मैं तो जैसा था वैसा ही हूँ।"

महापुरुष—"अपने-आपको तुमने बाँध रखा था। दूसरों के बाँधने की चेष्टा में तू आप बन्धन मे पड़ गया था। अपने जेठ बनने में, दूसरों को अपनेसे हेठ करने की कोशिश मे, दूसरे को जकड़ने के लिये अपनी तैयार की हुई बेड़ी में तू आप जकड गया था। दूसरे को दबाने में आप दब गया था। आदि में मुक्त था, अब फिर मुक्त हो गया। बीच का बन्धन कट गया। अब कोई भय नहीं है। बन्दा से तू आज खुदा हुआ। मैल हटा। उज्ज्वल निर्लेप हुआ। अब तुझे दुनिया की आँच न व्यापेगी। साँच को आँच नहीं! अब तू हर्ष-विषाद दुःख-सुख के केन्द्र के बाहर हो गया। अब निश्चिन्त जा। मन मे कोई शंका न ला।"

मैंने नम्र भाव से कहा—"कहीं जाकर ही क्या करूँगा ?"

महापुरुष—"अब तुम्हारे दर्शन से व्यथित जीवों को शान्ति मिलेगी। तुम्हारे चरणों का स्पर्श कर दुखिया अपने दुःख को भूल जायगा, रोगी रोग से मुक्त होगा, आकुल प्राण सुख-शान्ति पावेंगे, चंचल मन सुस्थिर होगा। तुम्हारी कृपा से जीवों को जीवन का गुप्त रहस्य सहज मे स्पष्ट होने लगेगा। जिनके जीवन का लक्ष्य केवल इन्द्रिय-सुख है, तुम्हारे संसर्ग से उनके विलास-बधिर कानों में भी आत्मा की पुकार पहुँचेगी और वे विलास को छोड़ प्रेम का आदर करने लगेंगे। उन्हें देख वासनाएँ कोसों दूर भागेंगी। अपने आपमें लिप्त रहने के

कारण जिनका जीवन भार-सा हो रहा है, जो संसार के लिये जिन्दा भी मुर्दा हो रहे हैं, वे भी तुम्हारे निकट-वर्त्ती होते ही उत्साह-पूर्ण आनन्द-मूर्त्ति हो परहित-रत हो जायँगे, तुम प्रेमदेव सर्वेश के पाद-पद्म तक पहुँच गये। अब कोई चिन्ता नहीं है।"

मैं—"किन्तु यह आनन्द कहाँ मिलेगा?"

महापुरुष—"दूसरे के लिये जीना सीखो। अपने लिये बहुत दिन जी चुके हो। अपने लिये तो तुम मर ही चुके। अब अपनी बात क्या चलाते हो? जो गया उसे क्या बुला रहे हो? यह आनन्द, जिसका तुमने अभी उपभोग किया, तुम्हारा है, तुम्हारा रहेगा। इसका कुछ अंश दूसरों को दो।"

मैं—"मुझे इस बखेड़े में न डालिये। आपके दर्शन से वञ्चित हो जाऊँगा!"

महापुरुष—"घबराते क्यों हो? मुझे जब चाहोगे, जहाँ चाहोगे, देख लोगे। नेम-पूर्वक, दृढ़ता से, जिसे पाया है, उसका जतन करना, उसे जुगाना, युक्ति से जुगाना, जैसे स्वर्णकार सोने को जुगाता है। प्रेम के साथ तुम्हारा तादात्म्य हो गया। अब जाओ। संसार में स्वच्छन्द विचरण करो। प्रेम की मस्ती में आशिक से खुद अपना माशूक बन जाओ। इश्क, आशिक और माशूक जब तीनों एक हो जायँ तब प्रेम की पराकाष्ठा, प्रणय का पूर्ण विकास। खुदी छोड़ खुदा बनो। प्रेमियों के आदर्श हो जाओ। आशिकों में इज्जत पाओगे। तुमसे मेरे मुँह की लाली रहेगी।"

इतना देख-सुनकर मैं समझ गया था कि महापुरुष की इच्छा के विरुद्ध मैं इस स्थान में ठहर नहीं सकता। अतएव मैं चलने को प्रस्तुत हो गया। किन्तु यहाँ से निकलने और अपरिचित मार्ग से अकेला जाने की कठिनाई उपस्थित हुई। मैंने उनसे कुछ कहा तो नहीं, किन्तु मन ही मन सोचने लगा कि कैसे क्या करूँ। मेरे मनोगत भावों को उन्होंने जान लिया। अस्तु, वे बोले—"पथ की चिन्ता न कर। सुगमता से पहुँच जायगा।"

अब कुछ कहना-सुनना नहीं था। किन्तु मेरे मन में आया कि इनका परिचय मुझे न मिला। इस सम्बन्ध में उनसे प्रश्न करने के अभिप्राय से मैंने उनकी ओर विनीत भाव से देखा।

आपने हँसकर कहा—"अपना परिचय तुम्हें क्या दूँ? अनेक दिन हुए, अपने व्यक्तित्व को खो दिया; अब मुझे स्वय स्मरण नहीं है कि पहले मैं कौन और क्या था, क्योंकर यहाँ आया, कैसे क्या हुआ, कितने दिनों से यहाँ हूँ। हजारों वर्ष बीत गये, किसी से भेट नहीं हुई। यहाँ से अब मैं कहीं जा नहीं सकता, इसी से तुम्हें यहीं बुलाया। अपना सन्देश इस गुप्त गुफा से बाहर भेजने के लिये तुम्हें इतना कष्ट दिया। दिव्य दर्शन पा चुके। अब जाओ और अपना तथा मेरा काम करो।

"जिस तड़ाग से तुम जल लेते हो उसी की बाईं ओर एक राह नीचे की ओर गई है। उसी से निकल जाना। रास्ते में कोई कठिनाई नहीं होगी। सब ठीक है। मार्ग सुगम है। यह विदाई देता हूँ।"

यह कह उन्होंने कोई रस मुझे पीने को अपने हाथ से दिया।

अधिक नहीं, एक आधा घूँट। उसका स्वाद अकथनीय था। एक हल्की-सी मादकता उसमें थी। सरूर की तरङ्ग नस-नस में दौड़ने लगी।

मुझे देख मुस्कुराते हुए उन्होंने कहा—"मेरी दी हुई प्रेम-सुरा पीकर अब तू सदा के लिये मस्त हो गया। इसकी खुमारी कभी न उतरेगी। शरावे-तहूर इसे क्या पावेगा।"

"यह वह मय है जिसके पीने से
और ध्यान छुट जाता है।
अपनेमें औ दिलवर में,
कुछ भेद नहीं दिखलाता है॥"

मैंने कहा—"धन्य! धन्य! मैं निहाल हो गया, बेपर्वाह हो गया। आपने जो दिया वह खूब ही दिया। क्या कहूँ—

'मैंने काबा को न देखा, न कलीसा देखा।
कुजे तनहाई में आकर, तेरा जलवा देखा।'

"कृपा रहे। मौज बनी रहे। और जो यह—

'प्रेम-बीज को बिरवा, दियव लगाय।
सींचन की सुधि लीजै, मुरझ न जाय।'

अपनी ओर से तो यही कहता हूँ कि—

"रहे लाखों बरस साकी तेरा
आबाद मयखाना।"

कंठ भर आया। गला रुद्ध हो गया। आगे मैं कुछ कह न सका।

उन्हें प्रणाम कर, उनसे आशीर्वाद पा, मैं उस गुप्त गुफा से चल पड़ा।

बाहर आकर देखा कि अभी सूर्योदय हुआ है। महापुरुष के बताये मार्ग से मैं चला। बहुत देर बाद घाटी से बाहर निकलने पर देखा कि एक छोटी-सी कुटिया में एक महात्मा बैठे हैं। दिन ढल चला था।

उनके पास जाकर मैंने उन्हें दंडवत् किया। उन्होंने कहा—"थके-से मालूम होते हो। आज रात में यहीं विश्राम करो। कल जाना। भोजन के लिये जो इच्छा हो, लो।"

रात में मैं वहीं ठहर गया। प्रभात समय चलना चाहा। उन्होंने कहा कि अकेला कहाँ जाओगे, कुछ देर और ठहर जाओ; उस ओर के जानेवाले लोग आवेंगे, उन्हीं के साथ जाना।

मध्याह्न होते न होते झुंड के झुड नाना भेषधारी साधु-संन्यासी वहाँ आने लगे। देखा कि महात्मा से जो जौन-सी वस्तु खाने-पहनने की माँगता है, वे उसे वही देते हैं।

रात में मै उनकी कुटी में सोया था। उस समय वहाँ कुछ नहीं था। इस समय तरह-तरह की चीजें वहाँ से क्योंकर निकलने लगीं यह बात मेरी समझ में नहीं आई। किन्तु पूछता किससे ?

तीसरे पहर महात्मा ने एक सन्यासी से मुझे साथ लेते जाने को कहा और मेरा परिचय उन्होंने दिया कि यह गुप्त गुफा से आता है—नीचे जायगा।

विना कुछ सोचे-विचारे मैं उनके साथ चला। सन्ध्या होते न होते हमलोग नीचे उतरने लगे।

इधर की अलौकिक बातें मेरी समझ में न आईं। मैं नहीं समझ सका कि इस प्रान्त के लोग विना कुछ कहे-सुने मेरे विषय में सब बातें क्योंकर जान जाते हैं।

जाते समय गुफा तक पहुँचने में मुझे इतना विलम्ब हुआ था, इतनी जल्दी लौट कैसे आया! पहाड़ के अञ्चल में अब मुझे छोटे-छोटे टोले दिखाई देने लगे। सामने एक टोले को देखकर सन्यासी ने कहा कि आज रात में यहीं ठहर जाना, कल अपने गाँव में जाना, रास्ता सीधा है, तुम्हारा घर यहाँ से दूर नहीं है, मैं दूसरी ओर जाता हूँ।

मैं—अच्छा। यही होगा।

आते समय महात्मा की कुटी के विषय में पूछने पर संन्यासी ने कहा था—"हमलोग, जो उनके पास जाँचने जाते हैं, साधक हैं। वह सिद्ध हैं। हमलोग तपस्या करते हैं। अपनी सिद्धि द्वारा वह हमलोगों की सहायता करते हैं जिसमें विना किसी कठिनाई के हमलोग अपना तपोव्रत-पालन करें। अपनी साधना का कुछ भाग हमलोग विनिमय में उन्हें देते हैं जिसमें उनका भडार भरपूर रहे, उसमें कभी कमी न हो। इस पर्वत-प्रदेश में ऐसे अनेक पुरुष हैं। ऋद्धि-सिद्धियाँ इन लोगों की दासी बनी रहती हैं। किन्तु इन वस्तुओं/का कोई अंश ये लोग अपने व्यवहार में नहीं लाते। ऐसा करें तो इनका तप क्षीण हो जाय, इनकी सिद्धि जाती रहे। परोपकार-साधन ही इनका व्रत

है। देखो, सिद्ध न होना, साधक ही रहना। भजन में बड़ा आनन्द है।

उस रात मैं वहीं रहा। सुबह उठकर अपने ग्राम में लौट आया। तब से यहीं हूँ।

अब मुझे कोई नहीं जानता, पर मैं सबको जानता हूँ। अपनेको जानने के कारण, जो जैसा है, उसे उसी रूप में अब मै अङ्गीकार करता हूँ; क्योंकि शोक एवं सौन्दर्य, तात्पर्य तथा विकाश, मेरे लिये एक हो गये हैं, भिन्न नहीं हैं। आज मैं वह प्रेमी हूँ, जिसके प्रेम-वितरण के लिये इस विश्व ब्रह्माड की परिधि भी सकीर्ण ही है। दुःख से प्रेम। प्रेम से दु ख। दुःख से सुख की उत्पत्ति। सुख में दुःख का विराम। विषम समस्या। इसकी मीमांसा कैसे हो?

परिशिष्ट

क्या कहा ? क्यों कहा ? कैसे कहा ? क्या कहूँ ! लिखने बैठा था, लिख न सका। केवल कागज काला हुआ। कहने की अनेक बातें थीं; पर कह न सका। दिल की दिल ही में रह गई। मेघकालीन कमल-वत् इनका विकाश न हुआ।

अन्तरात्मा से एक लहर उठी। सब भाव उसी मे डूब गये। जिगर से एक ज्वाला भड़की। उसने सबको खाक कर दिया। बचाने का कोई उपाय न रहा। इतना समय अपना और आप पाठकों का व्यर्थ नष्ट किया। क्षमा मांगता हूँ। किन्तु क्षमा मांगने से गया हुआ क्या फिर आ सकता है?

"गया न आवे, आया न जाय।"

मनुष्य 'हाय! हाय!' करता रह जाता है। हाथ कुछ नहीं आता।

समय पर जिसने चेता, वह पार हुआ। अवसर पर चूक जाने से फिर क्या होता है ?

आप लोगों से अब बिदा होता हूँ। मेरा नाम और पता जानने के लिये आप लोग व्यर्थ व्यग्र न हों। पूछताछ से कुछ लाभ नहीं है; क्योंकि अपना पता अब मैं आप नहीं जानता। केवल यही जानता हूँ कि मैं 'मैं हूं'। यदि इतना आप लोगों के लिये यथेष्ट न हो तो सुन लीजिये—"मैं हूं एक प्रलापी, अलीक-प्रलापी !"

इतने पर भी क्या आपलोग मेरे कथन का अर्थ समझना चाहते हैं ? इस प्रलाप-माला को शृङ्खलाबद्ध पाने की आशा करते हैं ? तब आपलोग मुझसे भी बढ़कर हैं !

दिमाग ठीक रहने पर फिर कभी आपलोगों को अपना अभिप्राय समझाने का प्रयत्न करूँगा। पर क्या होगा, कैसे कहूँ; क्योंकि

"अविगति गति नहिं समुझि परै।
जो कछु प्रभु चाहे सो करै ॥"

आज यही रहा। शुभ।